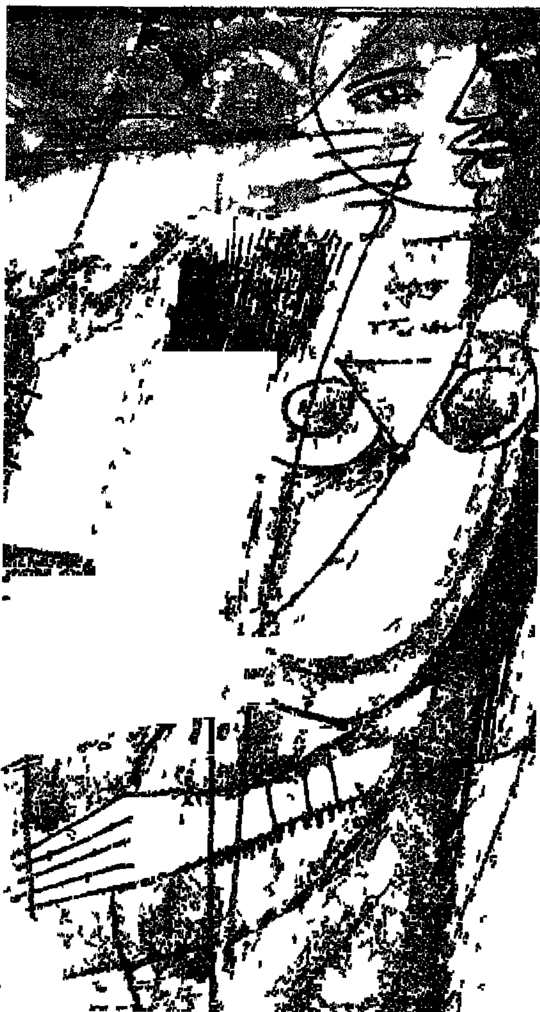


आधुनिक मानव की सबसे बडी त्रासदी [illegible] की त्रासदी भोग की त्रासदी। भोग के साधन भी [illegible] होते जा रहे है और उन्हे भोगने की इच्छा [illegible] सीमाए तोडने लगी है। भोगेच्छा की पूर्ति एव अपूर्ति तृप्ति [illegible] अतृप्ति के बीच वह त्रिशकु-सा लटका हुआ लग रहा है। [illegible] स्वतन्त्रता और अभाव से मुक्ति तथा उपभोग एव उपयोग [illegible] समानार्थी समझना ही शायद भोगवादी सस्कृति [illegible] बडी कमी है और आज करोडो लोग इसी भूल के शिकार है। पौराणिक कथानायक त्रिशकु भोगेच्छा तथा उसकी पूर्ति एव अपूर्ति के बीच जूझते हुए मन का सम्यक प्रतीक है।

हिन्दी के वरिष्ट एव प्रख्यात [illegible] श्रीवास्तव ने अपनी छठवी काव्यकृति [illegible] मिथक को आधार बनाकर इसी सत्य [illegible] काव्यात्मक रूप मे उजागर किया है। [illegible] द्वारा पूर्व-रचित प्रबन्धकाव्यो (चिन्तन [illegible] श्रृखला मे एक नई कडी होने के साथ-[illegible] का वह नया पडाव है जहा उन्होने एक [illegible] यथार्थ को अनुभूति की तरलता मे [illegible] सूक्ष्मता एव पारदर्शिता प्रदान करने [illegible] है। मिथककथा की भावात्मक अनुभू[illegible] अर्थ की उपलब्धि हो सकती है। प्रो० श्री [illegible] अर्थ को पूर्णत मौलिक काव्यात्मक अभिव्यक्ति [illegible] सराहनीय कार्य किया है। इस प्रबन्ध-काव्य मे प्रयुक्त लालित्यपूर्ण छन्द एव भाषा सर्वथा मौलिक बिम्ब एव उपमाए तथा पौराणिक एव काल्पनिक आख्यानो का समुचित सयोजन सहृदय पाठको के लिये एक सुखद आश्चर्य सिद्ध होगा और उससे अधिक प्रभावशाली होगी एक नई गहराई लिये हुए उनकी जीवन-दृष्टि। आशा है कि रसग्राही पाठक काव्यरस का आनद लेने के साथ-साथ अपने भीतर छिपे त्रिशकु को टटोलने लगेगे और यही इस रचना की उपलब्धि होगी।

प्रकाशक

# त्रिशंकु



डॉ0 नरसिंह श्रीवास्तव



वसुन्धरा प्रकाशन

प्रथम संस्करण 1997

मूल्य रु० 60/

प्रकाशक
**वसुन्धरा प्रकाशन**
236, दाउदपुर गोरखपुर
फोन 335221

लेजर टाइप सेटिंग
**सुदेशी कम्प्यूटर एण्ड कम्युनिकेशन**
गोलघर गोरखपुर

मुद्रक
**लोमस आफसेट प्रेस**
चावडी बाजार दिल्ली

कुछ आशाओ
कुछ दुश्चिन्ताओ के साथ
समर्पित है इक्कीसवी सदी को
बीसवी सदी का
शब्द-उपहार यह
जीवन का, शब्दो का
प्यार यह।

# अनुक्रम

# भूमिका

अन्तद्वन्द्व की रचना के पश्चात मुझे एक ऐस पौराणिक चरित्र–नायक की तलाश थी जो आधुनिक भोगवादी सस्कृति का प्रतीक बन सके। इस खोज क परिणाम स्वरुप मुझे पुराणो मे वर्णित त्रिशकु की कथा मे देहिक सुखभोग के अत्यान्तिक महत्व एव उसके दुष्परिणाम का उपयुक्त प्रतीक मिल गया। यद्यपि पस्तुत प्रबन्ध–काव्य मे कथा की वर्णनात्मक पुनरावृत्ति मेरा उद्देश्य कदापि नही ह फिर भा काव्य के ताने–बाने के लिय मेन त्रिशकु की मिथककथा को ही आधार बनाकर त्रिशकु की भोगवादी मानसिकता को काव्यात्मक स्वरूप देने का प्रयास किया हे। पुराणा के अध्ययन से यह प्रत्यक्ष हो जाता हे कि कथा म विभिन्नता हात हुए भी दो प्रमुख सत्य सभी पुराणो म उजागर हुए हे–प्रथम त्रिशकु की सदेह स्वगभोग की तीव्र कामना है और दूसरा परिणामत शून्य के विकट एकान्त मे जडवत लटके रहने का अनन्त अभिशाप। मेने इन्ही दो तथ्यो को इस काव्य की कथा का भावात्मक आधार बनाया है।

वदिक साहित्य मे त्रिशकु नाम का चरित्र सवप्रथम तैत्तिरीय उपनिषद् मे मिलता है किन्तु उपनिषद का त्रिशकु एक महान तपस्वी ज्ञानी एव वीतरागी पुरुष हे और उसकी सक्षिप्त कथा मे स्वगभाग की इच्छा आदि का काइ सकेत भी नही है। यद्यपि रामायण म भी (बालकाण्ड) त्रिशकु को एक सत्यव्रती एव तपोनिष्ठ सूयवशी राजा (महाराज हरिश्चन्द्र के पिता) क रूप मे प्रस्तुत किया गया हे फिर भी उसकी सदेह स्वग जाने की तीव्र इच्छा तथा उसके परिणामस्वरूप वशिष्ठ के पुत्रो द्वारा शाप देन तथा अन्त म स्वग से नीचे गिराये जाने के पश्चात विश्वामित्र के प्रस्ताव पर देवताओ द्वारा उस एक नक्षत्र क रूप मे आकाश मे स्थापित करने का वणन हे। जेसा कि देवीभागवत पुराण तथा कुछ अन्य पुराणो मे वणित हे त्रिशकु का वास्तविक नाम सत्यव्रत था त्रिशकु उपनाम उसके

कुलगुरु वशिष्ठ ने उसके कुकृत्यो के कारण शाप के रूप मे उसे प्रदान किया था। यही नाम सर्वसम्मत हो गया और कालान्तर मे एक मिथक कथा के नायक के रूप मे विख्यात होकर भारतीय लोक-जीवन का एक सुपरिचित चरित्र हो गया। देवीभागवत मे उसे एक स्वेच्छाचारी कामी मूर्ख एव अपकारी लोभी राजकुमार के रूप मे प्रस्तुत किया गया है किन्तु साथ साथ उसकी तपो-निष्ठा का भी वर्णन है। प्रस्तुत काव्य के नायक का चित्रण देवी भागवत मे वर्णित कथा के निकट रखा गया है किन्तु उसकी अन्तिम परिणति रामायण एव हरिवश-पुराण पर आधारित है। हरिवशपुराण मे भी उसे एक कामी एव नीच प्रवृत्ति वाले राजकुमार के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। सत्यव्रत (त्रिशकु) सूर्यवशी राजा त्रय्यारूण का पुत्र था जो परस्त्रीहरण द्वारा विवाह की मर्यादा नष्ट करने मे सिद्धहस्त था-

*सत्यव्रतो नाम कुमारोऽभूत्महाबला*
*पाणिग्रहण मन्त्राणा विघ्न चक्रे सुदुर्मति।*
*येनभार्याहृता पूर्व कृतोदारा परस्य वै*
*बाल्यात कामाश्च मोहाश्च सहर्षश्चापलेन च।।*

हरिवश पुराण हाल्शोध्या । १२ ।,

देवीभागवत के अनुसार उसे चाण्डाल होने का शाप गुरूवशिष्ठ ने दिया था किन्तु हरिवश पुराण के अनुसार यह शाप उसकी दुष्चरित्रता से खिन्न होकर उसके पिता ने ही दिया। हरिवशपुराण मे वर्णित है कि सत्यव्रत ने तीन पाप किया था इसी कारण वशिष्ठ ने उसका नाम त्रिशकु रख दिया। इस पुराण मे त्रिशकु के स्वर्ग से पतन की कथा का वर्णन नही है। इन सभी पौराणिक स्रोतो की भिन्नता को विशेष महत्व न देकर मैने उसके सदेह स्वर्गसुख-भोग और कामुकता तथा उसके मानसिक दुष्परिणाम को ही इस प्रबन्ध-काव्य की कथावस्तु का केन्द्रबिन्दु बनाया है साथ ही मिथक-कथा मे अन्तर्निहित प्रतीकार्थ को भी सकेतित करने का प्रयास किया है।

मिथक कथाए जातीय स्मृति की धरोहर होने के साथ-साथ जातीय कल्पना की ऊर्जा होती है। साहित्य मे मिथको का प्रयोग किसी शाश्वत सत्य को उजागर करने के लिये किया जाता है। वाह्य जगत का यथार्थ मिथककथा मे अन्तर्निहित अर्थ बनकर अपना वास्तविक रूप खो देता है। दूसरे शब्दो मे यह

कहा जा सकता है कि यथाथ का ठोस आकार अनुभूति की तरलता मे घुलकर अर्थ की सूक्ष्मता एव पारदर्शिता प्राप्त करता है। इसीलिये किसी जाति की मिथक–कथाए जातीय अनुभव का ऐसा निचोड होती है जिनके पकाश मे इतिहास दन्तकथा एव समकालीन यथार्थ को समुचित रूप मे देखा जा सकता है।

त्रिशकु की कथा भी ऐसी ही एक मिथक–कथा है। त्रिशकु सत्य और स्वप्न के बीच जीवित रहते हुए अनन्त सुख एव सौन्दय का अनन्त देहिक भाग करना चाहता है जो नैसर्गिक नियम के पूणत विरुद्ध हे। प्रकृति मे कुछ भी अनन्त नही हे और सौन्दयबोध पार्थिव नही हो सकता। उस हम उन आधुनिक व्यक्तियो के प्रतीक क रूप मे देख सकते है जो अपनी आत्मकेन्द्रित इयत्ता की पूण सतुष्टि न होने पर धैर्यहीन हो जाते है और एक कल्पित आदश–सुख की खोज म अस्ति (Existence) की सारी सीमाए तोडने को उद्यत हो जाते ह प्राय तोड भी देते है। समकालीन भागवादी उपभोक्तावादी सस्कृति भी इसी दिशा मे विकसित हो रही हे और आज के जनमानस को प्रभावित कर रही हे। पाकृतिक जीवन की मर्यादाओ की सीमाए तोडन का दुष्परिणाम उन्हे तब ज्ञात होता ह जब वे स्वप्नभग की भयावह स्थिति मे स्वय को जडीभूत हुआ पाते हैं। भोग की स्वतत्रता और अभाव से मुक्ति तथा उपयोग एव उपभोग को समानार्थी समझना ही शायद उपभोक्तावादी सस्कृति की सबसे बडी त्रुटि है। यही भूल त्रिशकु ने की थी ओर आज भी सहस्त्रो त्रिशकु इसी भूल के शिकार हे। शरीर को केन्द्र मे रखकर भोगसुख की पूण स्वतन्त्रता की प्राप्ति त्रिशकु का पागलपन था और यही आज तथा निकट भविष्य के मनुष्य का भी पागलपन बनता जा रहा हे। अबाधित अनन्त सुख की कल्पना न यथाथ पर आधारित है और न अतियथार्थ पर यह एक कल्पित एव भ्रामक विडम्बना मात्र हे।

मिथक कथा के अनुभव से ही अन्तर्निहित अर्थ की उपलब्धि होती है। विचारा अथ दशन का क्षेत्र है आर अनुभूति–जन्य अर्थ काव्य का। प्रस्तु प्रबन्ध–काव्य इसी शाश्वत सत्य को ध्यान मे रखकर त्रिशकु की अनुभूति को सवेदनात्मक रूप देने का एक विनम्र प्रयास है।

त्रिशकु की कथा का समाजवादी एव अस्तित्ववादी दृष्टिकोण से भी व्याख्यायित किया जा सकता है। मार्क्सवाद जहा वर्गवाद पर आधारित सामूहिक चेतना का दर्शन है अस्तित्ववाद मनुष्य की अतश्चेतना की व्याख्या करता है।

त्रिशकु मे सामाजिक चेतना का पूर्ण अभाव है। वह सामूहिक जीवन की समरसता एव समष्टिकल्याण के स्थान पर व्यक्तिगत सुख सत्ता एव वैभव का ऐसा अनन्त साम्राज्य चाहता है जिसम दैहिक सुख भोग की पूर्ण स्वतन्त्रता हो स्वर्ग इसी स्थिति का मिथिकीय प्रतीक है। समाज से बहिष्कृत होने पर वह अन्त्यज बना दिया जाता है फिर भी उसकी वैयक्तिक सुख की महत्वाकाक्षा जीवित रहती है। उसका विद्रोह सामाजिक न होकर नितान्त वैयक्तिक है। फलस्वरूप वह अनन्त जडता की ऐसी स्थिति मे पहुच जाता है जिससे उद्धार के लिये वह निरन्तर छटपटाता रहता है। मिथक कथा ऐसी ही विषम मनोवैज्ञानिक स्थिति की ओर सकेत करती है। उसके विद्रोह का दूसरा पक्ष यह है कि वह मनोमय आह्लाद अथवा आत्मिक आनद के स्थान पर दैहिक भोग की स्वर्गिक अनन्तता चाहता है। वह अपने क्षुद्र व्यक्तित्व के उत्थान के लिये ऐसी काल्पनिक स्थिति मे पलायन करना चाहता है जहा वह पूर्ण स्वतन्त्र होकर अनन्त सुख भोग सके किन्तु वह यह नही सोच सका कि उस स्थिति मे भी उसकी कोई पहचान नही रहेगी। वह बन्धनयुक्त देह और मन का समन्वित पिण्ड मात्र रहेगा। पूरी पहचानविहीन जडता ही उसकी नियति बन जायेगी। महर्षि का सारा मन्त्रबल भी उसको सुखद स्थिति मे नही स्थापित कर सकता। आधुनिक अस्तित्ववाद एक ऐसा दर्शन है जो अपनी इयत्ता की खोज मे खोये मनुष्य के मोहभग एकाकीपन और निराशा को जीवन की व्याख्या मे प्रमुख स्थान देता है। यह स्वच्छन्दतावाद का एक नया रूप है जो जीवन के प्रति ऐसा नकारात्मक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है जो किसी न किसी रूप मे प्रत्येक युग मे पाया जा सकता है। त्रिशकु अपने ऊपर थोपी गइ बाध्यता को उतार फेकना चाहता है किन्तु उसकी नियति उसे एक जडता मे जकड देती है। इस काव्य मे शून्य मे टगे हुए अभागे धरती के प्रति आकर्षण एकाकीपन पर विजय पाने की तीव्र अभिलाषा मात्र है किन्तु कविता मे यह अश एक विशिष्ट भावात्मक चमत्कार उत्पन्न करता है जिसका आधार उसका मानसिक द्वन्द्व ही है। यह उसके निरर्थक स्थिति से मुक्ति की एक काल्पनिक तलाश है। यह अश उसी प्रकार पूर्णत काल्पनिक है जिस प्रकार कल्पनादेवी से उसका सम्वाद किन्तु इन काल्पनिक अशो का सृजन काव्यात्मक प्रभाव उत्पन्न करने के लिये किया गया है। काल्पनिकता त्रिशकु की अन्तश्चेतना के पूर्णत अनुकूल है जिसके परिणामस्वरूप वह सत्य और स्वप्न के बीच जीता हुआ महत्वाकाक्षी व्यक्ति–चेतना और अभिशप्त जीवन की बाध्यता के अन्तर्द्वन्द्व को झेलता है। इच्छा और सम्भावना के द्वन्द्व का दबाव वह प्रारम्भ से ही भोगता है जब वह सभ्रान्त राजवशीय समाज मे चाण्डाल विशेषण से विभूषित होकर पूर्णत अजनबी बना दिया जाता है। इससे उबरने एव अपनी अभिलाषापूर्ति के

लिये मंत्रविज्ञान का सहारा लेता है। त्रिशंकु की पौराणिक कथा आधुनिक वैज्ञानिक मनुष्य की भी कहानी है जो वैज्ञानिक तकनीकों के सहारे एक स्वर्ग के निर्माण में जुटा है यह भूलकर कि उसके सारे आविष्कार उसे ही बांधते चले जा रहे हैं। पुराणों में केवल कथा ही कही गई है उसके द्वारा संकेतित अर्थ प्रत्येक युग में अपने अपने ढंग से निकाले जाते रहेंगे जिसे उदभासित करना ही रचनाकार का दायित्व है और सदैव रहेगा। यह प्रबन्धकाव्य भी इसी दायित्व-निर्वहन का एक प्रमाण है इसे मात्र उत्तर आधुनिकतावाद से प्रेरित कविता में छन्द एवं मिथक की वापसी कहकर नहीं टाला जा सकता है। यह एक सांस्कृतिक धरोहर के पुनर्मूल्यांकन द्वारा इसे पुनः जातीय–स्मृति का अंश बनाने का प्रयास है। कविता में एक जातीय धरोहर की पुनरचना के लिये लयात्मक गीतात्मकता आवश्यक है इसी तथ्य का ध्यान में रखकर सरस छन्द का प्रयोग किया गया है। काव्य के उत्तरार्ध में प्रयुक्त मुक्त छंद समकालीन त्रिशंकु की विषम एवं द्वन्द्वपूर्ण मानसिकता के अनुकूल है। भाषा बिम्ब एवं कथ्य की प्राचीनता समकालीन यथार्थ का मिथकीय संसार से अलग करती है फिर भी दो संदर्भों के प्रबन्धात्मक संयोग के द्वारा समकालीन यथार्थ का मिथकीय परिप्रेक्ष्य में प्रभावपूर्ण बनाने का प्रयास किया गया है।

मैं उन सभी मित्रों विशेषकर प्रो० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव [illegible] रामदरश राय डा० रमाकान्त दुबे प्रो० विजय बहादुर राय एवं डा० [illegible] मिश्र आदि का आभारी हूं जिन्होंने पाण्डुलिपि में सुधार के [illegible] मूल्यवान [illegible] दिया एवं इसे शीघ्र पूर्ण कर प्रकाशित करने के लिये मुझे प्रोत्साहित किया।

त्रिशंकु के सुरुचिपूर्ण प्रकाशन के लिए मैं अपने मित्र डा० वी० पी० राय को धन्यवाद ज्ञापित करना चाहता हूं।

*नरसिंह श्रीवास्तव*

रेलवे स्टेशन [illegible] पुरी
मोहद्दीपुर गोरखपुर–
[illegible] नगर [illegible]
दूरभाष

# सर्ग –१

# कामना

सान्ध्यसुन्दरी मौन म्लान क्लात शात सरिता तीरे,
नभ से भू पर उतर रही थी धूमिल-सी धीरे-धीरे।
दूर क्षितिज पर अस्त सूर्य की आभा थी यो बिखर गयी
धरती की आसक्ति उभर ज्यो मस्तक पर हो निखर गयी।

था तम का नहीं राज्य स्थापित, न ही ज्योति का शासन,
तिमिर-प्रकाश-सन्धि-सत्ता का था अनुपम अनुशासन।
था अभी धवल तारिकाओ के मुख से घूँघट उठा नहीं,
किन्तु नील पट हटा चपल ग्रह लगे देखने कहीं कहीं।

भूरे-भूरे अभ्रखण्ड लगते ज्यो सोया कोई रोगग्रस्त
या हताश विक्षिप्त विरहणी के कुन्तल हो अस्त-व्यस्त,
क्रौच-युग्म बोझिल मन से नभसागर मे थे तिरते,
प्रणय-व्यथा शकित विछोह की करुण स्वरो मे थे कहते।

स्निग्ध शान्ति थी फैली यो चारो ओर दिशाओ मे,
समाधिस्थ साधक खोया ज्यो आत्म-बोध की राहो मे।
मौन वेदना-सी ओढे थी धरती चादर नीरवता की
और व्योम था लगता ऐसा नील वितान शून्यता की।

थमी-थमी थी साझ लग रही रुका हुआ सा जीवन-रथ,
काटे नहीं कट रहा तनिक भी सत्यवत का सूना पथ।
ऊघ रही थीं मौन दिशाए, क्षितिज-छोर लगते निद्रित,
अलसित डग भर रहा पथिक कर एक विन्दु पर मन केन्द्रित।

एक विशाल शाल के नीचे बैठ गया वह चिन्तित मन,
लगा सोचने जीवन के उत्थान पतन का अर्थ गहन।
सुनकर गुरु के शाप-शब्द मन का दर्पण था टूट गया,
जीवन का सम्बन्धसूत्र ज्यो हाथो से हो छूट गया।

सूखे पत्ते गिरते सिर पर, प्रकृति हो रही निर्वसना,
उन्मन था हो गया सत्यव्रत टूट गया मधुरिम सपना।
चूल्हे पर चढे तवे-सा तप्त हो गया नभ विशाल,
रोटी सा सेकता धरा क्षुधाग्रस्त था महाकाल।

लगा सोचने शापो से विद्रोह कभी है क्या सम्भव
सम्भव है क्या शाप-मुक्ति स्वत्व-प्राप्ति है क्या सम्भव?
क्या स्वतंत्र सुखमय हो सकता है यह अधम हीन जीवन
या समाज का बन्धन ही होगा जीवन का परिसीमन।

जीवन क्या अतृप्ति का है तीखा अनन्त पीड़क अनुभव
शमन अपूर्ण इच्छाओ का स्थूल देह से है क्या सम्भव?
दैन्य अभावग्रस्त जीवन की होगी क्या सार्थकता
सम्भव नहीं सृष्टि क्या ऐसी जिसमे हो सुख की सत्ता?

धरती पर तृप्ति नहीं सम्भव शायद यह लोक दमन का
पूर्ण तृप्ति यदि स्वर्ग नहीं तो स्वर्ग भुलावा मन का?
मिलता नहीं कहीं से मेरे किसी प्रश्न का भी उत्तर
शायद एक व्यक्ति के दुख से पड़ता नहीं कहीं अन्तर।

प्रकट सत्य-सी स्वर्ग-कल्पना आंखों मे है उतर रही,
पूर्ण तुष्ट जीवन की आभा मन-प्रांगण मे बिखर रही।
है देह प्राण, मन बुद्धि अहं एक सूत्र मे रचे-सजे
ज्यो सुखमय जीवन-माला मे दिव्य गंधमय सुमन सजे।

अग-जग सृष्टि समग्र एकरस है बिखेरता वैभव अपना,
क्या मनुष्य के लिये मात्र दुख स्वर्ग-भोग-सुख सपना?
जो कुछ है अप्राप्य वह क्या प्राप्य नहीं है हो सकता,
जीवन से अतृप्ति का धब्बा मानव नहीं है धो सकता?

सुरपति का जब राज मुकुट दृष्टि-पन्थ मे होता नर्तित,
वैभव सत्ता का प्रतीक सिहासन करता आकर्षित।
पुष्पित पारिजात की मादक सुगध है जीवन-वैभव,
किन्तु स्वर्ग-सुख लगता जीवनोपरान्त ही है सम्भव।

कैसे होगे मदिर प्रणय-परिरम्भ देव बालाओ के,
होगे कितने मधुर अधर रक्ताभ देवकन्याओ के?
प्रथम किरण ऊषा की ज्यो नग्न कर रही ज्योति-स्नान,
विद्युतरेखा-सी कौध उठा करती होगी उनकी मुस्कान।

कैसी मधुर गुदगुदी मन के पोरो मे होती होगी,
जब पुलकित सनसनी त्वचा की प्राणो को छूती होगी?
है तन के असीम सुख मे निमग्न होना समाधि मन की,
होती होगी उल्लसित आत्मा देख ललक चुम्बन की।

स्वर्ग-सरो मे रूपसिया जब करती होगी केलि-स्नान
बाहुवक्ष पर जलकण लगते होगे मोती की मुस्कान।
मदिर मेघमाला सी लहरे उन से क्रीडा-रत होकर,
ढल जाती होगी अतृप्त सी उनके अगो को धोकर।

कैसी होगी देहयष्टि जिनमे सरगम होते मुखरित,
कैसी है गति लास्य-नृत्य की मुद्राए करती विरचित?
जिनकी आखो का ओज खोलता भावो के अर्थ गहन,
कैसे होगे उन रूपसियो के रस बरसाते अश्रु-नयन?

शात मानसर जल पर तिरते हसो सी जिनकी आखे,
जिह्वा रहती है मौन बात करती है जिनकी आखे।
जिन आखो मे प्रणय-पुराण के पाठ सदा लिखे रहते,
वे ही विषधर सर्प-नयन मुझे निरन्तर डसते रहते।

नील कमल या मृगचितवन अथवा जैसे किसलय कोमल,
बरबस मन प्राण खींच लेते उनके स्वप्न-नयन चचल।
दमक रही ज्यो घने बादलो मे मद्धिम विद्युत-रेखा,
शात सुमुख पर सदा खिची रहती होगी स्मित-रेखा।

प्रणय-पात्र छलकते होगे भरे तुष्टिरस चारो ओर,
सुरभि देह की करती होगी रसयाचक को रस-विभोर।
अगणित कलिया आह्लाद की एक साथ खिलती होगी
जब मधु मादक अभिसार-सुरा आखो मे ढलती होगी।

सोचा करता हू कैसे सत्ता शक्ति हृदय मे बसती,
कैसे भोग-तृप्ति की अरुणिम रेखा आखो मे खिचती?
कैसे सुख, ऐश्वर्य-धार पर तिरती है अभिलाषाए,
कैसे नील झील-सरसिज-सी खिलती होगी आशाए?

कभी सोचता हू बाहो मे कस लू वैभव जीवन का,
कभी चाहता हू समेट लू सारा सुख तनका, मन का।
कभी सोचता हू बस जाऊँ अप्सरा-लोक मे जाकर,
पिया करु वारुणी स्वर्ग की अधर धरे मृदु अधरो पर।

दमित वासना स्वप्न-क्षणो मे रम्भा बन आ जाती है,
कुण्ठित इच्छा कभी उर्वशी-सी मन मे छा जाती है।
ककणक्वणित मधुर नूपुर-ध्वनि कानो मे कुछ है कहती
सूने उर मे चिर अतृप्ति की ज्वाला एक जला करती।

उतर गगनगगाओ से कभी स्वप्न-परिया है आती,
इन्द्रधनुष से नि सृत सर-सी उर-अतर मे धस जाती।
बन जाता कमनीय देह-स्पर्श-स्वप्न वेदना प्रखर
जब छूते कर कटि कपोल हो जाते कहीं तप्त सत्वर।

गिर पडता हू हो निढाल आहत अभिलाषा अको मे
या उडता रहता अचेत जागृत आशा के झोको मे।
चिर अतृप्त रह जाती मेरी सुषमा-सुधा पान-इच्छा
शुष्क अधर करते रहते विकल सोम-रस-पान प्रतीक्षा।

बार-बार कान मे कहता मधुर स्वप्न का व्यापारी,
सत्ता-सुख, सौन्दर्य-भोग है जीवन की सम्पत्ति प्यारी।
भोग-भाव हीन जीवन कविता है रिक्त भाव रस छन्द
धरती के जीवन मे केवल है अलगाव अभाव द्वन्द्व।

यह बात चेतना की उर्वर धरती मे है धरा जाती
अभीप्सा-वर्षा फुहार से अकुराती है बढ जाती।
शनै शनै छा जाती मन पर पुनर्नवा कामना-लता,
अमरबेलि झुरमुट मे है खो जाता मन का अता-पता।

पागल कुत्ते सा पीछा करता न्यूनता का जीवन,
डसता रहता नाग निरन्तर स्वत्वबोध का बौनापन।
घोर निराशा मगरमच्छ घात लगाये तिरता रहता
अविश्वास विश्वास तरी पर एक साथ जब हू चलता।

चाह पूर्णता की अपूर्त है रिक्त अतृप्त विरस जीवन,
फीके लगते स्वाद सभी रहता अशान्त हू अनमन।
आचार्य प्रवर से प्रश्न करू, है रिक्त व्योम या वसुधा,
स्वर्ग सत्य है या चिर सुख का केवल निलय विकल्पित सा?

जीवन एक दीप-सा टिमटिम भय कातर जलता रहता,
एक झकोरा आते ही है अधकार मे खो जाता,
फिर भी क्यो बन्धन है इतने, क्यो इतनी है सीमाए,
बुझे न जब हम बुझना चाहे, न स्वतन्त्र जलने पाये।

किसने रची त्रासदी है यह, कैसी चिर दुख की उत्पत्ति,
भय करुणा है व्याप्त निरन्तर किन्तु नहीं है रस-निष्पत्ति?
क्यो ससृति मे प्रथम दिवस से है फैला अनन्त बिखराव,
मधुर लास्य मे भरता रहता कौन विकट ताण्डव भाव?

कौन विदूषक रचता रहता नये नये सत्रासक स्वाग,
कौन निरन्तर गाता रहता है पीडा के करुण राग?
कैसी नियति ठठाकर हसती, करती व्यग-प्रश्न अपना-
क्यो मनुष्य देखता रहता स्वर्ग-भोग-सुख का सपना?

सर्ग – २

# प्रतिरोध

था अषाढ का प्रथम पक्ष, मन मे शका के मेघ घिरे
कुलगुरु-आश्रम पहुचा त्रिशकु जब उर मे सताप भरे।
चिता-तडित चमकती-क्या गुरु देगे उसको क्षमादान
अथवा अन्त्यज मान उसे भूलेगे परिचय अभिधान?

वायु-झकोरो से जब जब घनघोर घटाए छट जाती,
आशा-सूर्य चमक उठता पग मे दृढता थी बढ जाती।
सिमट सिकुड़ कर आशाए जब श्याम घटा-सी रह जाती,
घोर निराशा-अमानिशा थी ज्यो दिन मे ही आ जाती।

बरसेगे घिरे हुए अभ्र या बिन बरसे उड जायेगे,
अथवा बूदा-बादी करके आशान्वित कर जायेगे,
यह प्रश्न घटा-सा उमड़ रहा था त्रिशकु के अन्तर मे,
स्वर्ग-प्रभा थी झलक रही उसके मानस के अणु-अणु मे।

वदली कभी धूप होती मेघो का जब होता विचरण
आशा और निराशा का ज्यो होता हो प्रत्यावर्तन।
ढकता तेज दिवाकर का जब घने वादलो का समूह,
भेद न पाता सत्यव्रत तव आशकाओ का चक्रव्यूह।

मुख्य द्वार पर पडा सुनाई वेद-पाठ-स्वर मन्द मन्द,
शुचि सुगन्ध छा रही यज्ञ की महक रहा हो ज्यो मकरन्द।
गध-वीथि पर चला ठिठकता आशकित मन कम्पित पग,
यज्ञ-शक्ति से गुरु सहर्ष भेजेगे उसे सदेह स्वर्ग?

आश्रम का अन्तर्पथ, यज्ञशाला, कुटीर सब थे परिचित,
सहपाठी वटुक मित्र उसके स्मृति-पट पर थे सव अकित
जो सहम थे त्यक्त मित्र को देख रहे आश्चर्य चकित,
क्या नई समस्या लाया है राजपुत्र गुरु से शापित?

मत्र-गुजरित था गुरुकुल का सारा शुचि शात परिवेश,
व्यावहारिक जीवन से ज्यो भिन्न बसा हो कोई देश।
स्थूल गुह्य सम्बन्धो पर था चल रहा कहीं सम्वाद,
कहीं वेद के गहन अर्थ पर था हो रहा वाद-विवाद।

कोई वटुक हुआ देख सत्यव्रत को उल्लसित प्रसन्न,
कोई चिन्तित था क्यो हुआ आज है विद्रोही-आगमन।
किसी किसी ने स्वागत उसका किया सहर्ष प्रणाम सहित,
किसी किसी की आख फिरी या दृष्टि रही भावना रहित।

गुरु समक्ष जब सत्यव्रत ने किया मौन साष्टाग नमन,
गुरु ने भी ले अक त्रिशकु को दिया सहर्ष आशीर्वचन।
पूछा आये क्षमा मागने अपने पूर्व कुकृत्यो का
अथवा सुसमाधान चाहिये अभिनव प्रश्नबिन्दुओ का?

सकोच विनय के शब्दो मे बोला नतशीश सत्यव्रत,
गुरुदेव आप के मत्रज्ञान से परिचित है आर्यवर्त।
शापित हू फिर भी धधक रही उर मे अभ्युदय-ज्वाला,
स्वर्ग सदेह पहुचने का सपना करता है मतवाला।

स्वर्ग सदेह गमन की इच्छा बढी नदी ज्यो सावन मे,
सम दम जैसे उभय किनारे ढहे बह गये प्लावन मे।
धरती के अतृप्त जीवन से हृदय रिक्त है ऊब गया,
आशा-सकुल स्वर्ण महल भूलुण्ठित जल मे डूब गया।

ऐसा लोक चाहता हूं जिसमे न भोग की हो सीमा
सब कुछ हो उपलब्ध जहा केवल वैभव की हो गरिमा।
बिना देह सुख-भोग स्वप्न की सम्पत्ति-सी माया छलना,
शिशु अबोध के भावो सा है मूक मोन जीवन जीना।

प्राणवन्त हर वस्तु यहा उर्ध्वगति-प्रेरणा अनुप्राणित
मानव भी करना है चाहता अपना शौर्य प्रमाणित।
पूर्ण चन्द्र को छूने उठती सागर की लहरे उत्तुंग,
स्वर्ग-भोग हेतु लालायित लगते सारे उत्तुंग श्रृंग।

पवन-पंख पर धरा धूलकण उड़ते रहते है ऊपर,
स्वर्गाभिमुख हो यज्ञ-धूम्र भी उठता रहता है ऊपर।
स्वर्ग-कामना है प्रकाश जीवन का, प्राणो का कम्पन
ज्यो अनन्त नभ आत्म-तत्त्व मे करता रहता स्पन्दन।

हर व्यक्ति श्रेष्ठता की सीढ़ी चढ़ना है चाहता हर क्षण,
स्वर्ग-अभीप्सा आत्म-तुष्टि का स्वाभाविक है लक्षण।
आत्मदेह दो तत्व नही, देह चेतना की अभिव्यक्ति,
विस्तार अह का हो पूर्ण, यही आत्मा की है शक्ति।

स्पर्शों मे ही होती है निष्क्रिय आत्मा क्रियावन्त
देह-वाटिका मे ही आता है अदृश्य का मधु वसत।
यह देह किसी अगोचर का है रूपान्तरित प्रकाशन,
सुख-समाधि मे देह-भाव का रह जाता नहीं स्मरण।

है मिलता जब तक विम्ब न कोई, मौन रहता है अर्थ,
साथ-साथ उजागर होते विम्ब और अवगुंठित अर्थ।
प्रणय-पार्थिव दपर्ण देता झिलमिल अरूप का साक्ष्य,
रस निमग्न होना ही है समस्त साधनाओ का लक्ष्य।

बोले वशिष्ठ 'सत्यव्रत वास्तविक प्रगति है अभ्यन्तर,
स्वर्गारोहण प्रज्ञा-सर मे डुबकी लेना है भीतर।
है सम्भव नहीं कदापि वृत्तियो की परितुष्टि धरा पर,
भौतिक सृष्टि नही पूर्ण, है केवल पूर्ण परात्पर।

तन-तृष्णा की पूर्ण तुष्टि सत्यव्रत केवल प्रमाद है
स्वर्ग-भोग का तर्क मात्र प्रवचना, मिथ्या विवाद है।
इच्छाओ का भार लिये देह-वृक्ष लहराता भू पर,
जिसकी जडे धसी धरती मे कैसे बने स्वर्ग-कल्पतरु?

है असत्य आस्था तुम्हारी स्वर्ग-भोग कोरा सपना,
भौतिकता से साध्य नहीं सुरपुर की है सूक्ष्म चेतना।
जब तक देह-सुख-भोग असीम वैभव मे खोया है मन,
शक्य नहीं अनन्तता के चिन्मय जीवन मे परिभ्रमण।

दिव्य लोक मे दैहिक सुख से कुछ सरोकार नहीं होता,
विद्युत, वायु, गध का ज्यो कोई आकार नहीं होता।
कोई नही लाघ सकता पार्थिव अस्तित्व का पर्वत
तोड नहीं सकता कोई भी नियम प्रकृति के शाश्वत।

सुख सत्तामय स्वर्ग-कल्पनामात्र भोग की अभिलाषा,
सुरपुर की कामना है केवल शक्ति, सत्ता की आशा।
सुख दु ख द्वन्द्व रहित सुरपुर है केवल वैभव की जड़ता
नहीं कमी है कोई फिर भी इच्छा-शकु सदा गडता।

जिह्वा पर मधुर स्वाद सी हर तृप्ति क्षणिक है होती,
भरती नहीं कामना अतृप्ति की कठिन कोर मे सोती।
यह अतृप्ति ही नई कामना का बनती नव उद्दीपन,
क्षण मे तन की भूख प्यास बन जाती मन का सूनापन।

है विकल्प-शून्य सुरपुर केवल भोग भोग की लिप्सा,
जीवन-मूल्य नही बनती कभी विकल्पशून्य अभीप्सा।
कुछ भी अच्छा बुरा नहीं सदा एक-रस रहता जीवन,
ऊब, उदासी-ग्रस्त रहोगे देह बना भोग-सुख-साधन।

द्वन्द्वो मे सर्वदा निहित है जीवन मूल्यो का उद्गम,
किसका त्याग वरण हो किसका यही कर्म का शाश्वत क्रम।
स्वर्गलोक मे कर्म-द्वन्द्व की सम्भावना नहीं होती,
धरती पर नैतिक विकल्प की हर स्वतन्त्रता है होती।

रहे प्राप्य से असन्तुष्ट तुम अप्राप्य के लिये लड़े,
तृप्ति, अतृप्ति, आकाक्षा के तीन बिन्दु पर अड़े खड़े।
सब के भागीदार सदा स्वय स्वय मे हो चुभते,
हो त्रिशकु तीनो काटो की चुभन निरन्तर तुम सहते।

जीवित हो प्रत्यक्ष सत्यव्रत किन्तु यथार्थ मे मृत हो,
असन्तुष्टि, सन्तुष्टि, कामना मध्याह्न सुदृढ स्थित हो।
रखना नही चाहते पग स्वार्थ-चौखटे के बाहर
हो त्रिशकु सूर्य-वश यश कर सकते तुम नहीं उजागर।

त्रिविध ताप जीवन के तीन कील से प्राणो मे धसकर,
हे राग-रज्जुओ से बाधे मन बुद्धि तुम्हारा कसकर।
प्राणो की पीडा को तुम दे बैठे हो सुख की सज्ञा।
हो त्रिशकु तुम शीघ्र गवा दोगे अपनी अमूल्य प्रज्ञा।

हे अनन्त सागर चारो ओर तुम्हारे तिमिराच्छन्न
[illegible] द्वीप [illegible] निज तक सीमित मृत्यु [illegible] आसन्न।
हे बटी हुई सकोचित [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] त्रिशकु,
जीवन और मृत्यु के पाप [illegible] [illegible] तुम [illegible] त्रिशकु।

[illegible] रेखा अतृप्ति की तिरछी, स्वप्न [illegible] [illegible]
[illegible] देह मे बन्दी [illegible] तुम भोगधार मे हो बहते।
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] की मार तुम्हारी [illegible] [illegible]
कैसे [illegible] पाओगे आखिर चिर अतृप्ति वेदना [illegible]।

दिवा स्वप्न देखते-देखते सत्यव्रत हो तृष्णारत
इच्छा-पोटली खोलते रह जाओगे परत दर-परत।
इच्छा, क्रिया, ज्ञान कडी का टूट गया सम्यक सम्बन्ध
तीन कोण पर वक्र शकु हो मात्र एक जीवित कबन्ध।

होता नहीं कभी धरती का स्वर्ग लोक में आरोहण
सम्भव सतत साधना से है भू पर दिव्यता अवतरण।
धरती पर सन्तुलित सदा है सुख दुख, जीवन और मरण
खोजो इस जीवन में ही संघर्ष, शान्ति का समीकरण।

सत्ता से विद्रोह किया, थी भ्रान्ति तुम्हारे मन की
स्वर्ग-भोग-साधना-रत है क्रान्ति तुम्हारे जीवन की।
रहे विशिष्ट बनकर भी जो सामान्य जन साधारण
वही व्यक्ति समग्र क्रान्ति का एक मात्र होगा कारण।

जब रुग्ण देह की क्षमता को लोभ करेंगे आक्रामित
छीना-झपटी, सीनाजोरी से कातर होंगे शोषित।
अपराधी हथिया लेंगे सत्ता शासन की बागडोर
लेकर समाज का धन धनपति बनने का होगा जोर।

धन से बल, शक्ति से वैभव पाना होगा जब मानक
धन का जीवन-मूल्य भ्रष्ट कर देगा पूरा राजनीतिक।
नये-नये होंगे आकर्षण रंगे रंगे भोगों के रूप
जीवन खो देगा समरसता बनकर अपना ही विरूप।

कर देगा यह भोगवाद जीवन-धागे जीर्ण-शीर्ण,
रोगी दूषित वायु धरा नभ-नील-छत्र होगा विदीर्ण।
नये-नये भोग-साधन की खोज बनेगी जीवन-ध्येय,
अपना सुख-भोग श्रेय होगा, दूसरे की पीड़ा हेय।

जब भोग-सुख की इच्छा देगी अपनी सीमाएं तोड़,
व्यक्ति बनेगा वस्तु, व्यक्ति-पूजा की होगी होड़।
व्यक्ति विकेंगे हाट हाट, जीवन मूल्य बनेगा भोग,
अन्ध-अनुकरण को समझेंगे सृजन यंत्र-संचालित लोग।

व्यक्ति व्यक्ति जब सुख सुविधा की सीमा में बंधा रहे,
कौन दूसरे का सुख बांटे, कौन किसी की व्यथा सहे?
अभ्युदय अधिकार सभी का किन्तु किसी का अहित न हो
निज सुख, वैभव-जोड़-तोड़ में कोई और व्यथित न हो।

प्रकृति प्रदत्त धन धरती पर करता जन जन का पोषण,
वैभव विलास-वृत्ति स्वर्ग की बनती धरती पर शोषण।
उपयोग, भोग का सूक्ष्म भेद ही धरा स्वर्ग का अन्तर,
इन दो पाटों के बीच पिसा करता है मनुज निरन्तर।

ऐसा स्वर्ग बने जिसमे जन जन की हो भागीदारी,
प्रगति और ऐश्वर्य-भोग मे सब की हो साझीदारी।
क्षमता की हो परख सुनिश्चित, शक्ति बने सेवा-साधन
सबका जीवन मगलमय हो, रहे न कुछ बाधा बन्धन।

है सुख-समानता शक्य नहीं, दुख-समानता है सम्भव
दुखियो का दुख करे विभाजित देकर यदि अपना वैभव।
बाध बाधना है आवश्यक भोग-नदी के उभय ओर
वरन् लोभ का प्रचण्ड प्लावन देगा समाज को बोर।

नरक स्वर्ग अलग अपना है किन्तु सभी है भागीदार,
कोई एक स्वर्ग नहीं कर सकता जन-जन का उद्धार।
व्यक्ति रहेगा जब तक अपने समृद्धि-स्वर्ग तक सीमित।
जन-शोषण सघर्ष युद्ध से धरा सदा रहेगी पीडित।

बनो विशिष्ट स्वय किन्तु साधारण जन से जुडे रहो,
आदर्शो के बन अनुगामी कटु यथार्थ पर खडे रहो।
खोजो वह पथ जहा हो आदर्श बना जीवन-यथार्थ,
भौम-ब्रह्म की सेवा मे आड़े आये न क्षुद्र स्वार्थ।

सर्ग — ३

# स्वर्ग-सत्य

था निरभ्र आकाश दिशाए साय साय सब करती थी
प्रखर धूप से तप्त धरा ज्यो श्रम से आहे भरती थी।
घुमड रहे थे घोर निराशा-चक्रवात नृप के मन मे
नरककाल अकाल हस रहा गतिविहीन इस सावन मे।

ऊबड खाबड पथरीले पथ पर सका न चल त्रिशकु अधिक,
एक वृक्ष की सघन छाव मे पसर गया वह थका पथिक।
सोचा था साझ ढले पहुचेगा ऋषि विश्वामित्र आश्रम
तपोनिष्ठ ऋषि मन्त्रो से बदलेगे उसका जीवन क्रम।

क्षण भर आशा की थिरकन से सिहर उठा उसका तनमन
ज्यो अन्तर्वीणा-तारो को झकृत कर गया अशान्त पवन।
वह लगा देखने स्वर्ग-छटा कल्पना-नयन के पथ पर
क्षण मे पहुच गया स्वर्ग चढ सपनो के झिलमिल रथ पर।

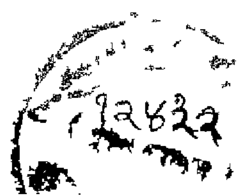
स्वप्न-पालने मे चेतन मन क्षण भर मे ह सो जाता,
स्वप्न-पख पर अवचेतन कल्पना-लोक मे उड जाता।
स्वप्न अपूर्त इच्छा का है मधुर अमूर्त बिम्बायन
अथवा किसी विषम पीडा से मन का स्वरचित पलायन।

स्वप्न कल्पना की उडान कर, यथार्थ-सीमा के पार
बरबस देते खोल अप्राप्य-प्राप्ति-सम्भावना-द्वार
स्वप्न-परी के ज्योति-पख पर चढकर यह यायावर मन
रचता क्षण मे नई सृष्टि स्वय भोक्ता भोग स्वय बन।

देखा त्रिशक् ने रम्य छटा सुरपुर की कल्पना-रचित
किरणोज्ज्वल सरिताए बहतीं पर्वत लगते रत्न-जटित।
स्फटिक शिलाओ पर झरते तरल रजत से जल-प्रपात,
कमलकाति पर प्रथम रश्मि से लगते हैं सन्ध्या प्रात।

मादक समीर के मृदु झोके आते ज्यो हो सुधा सने,
स्वर्ण-गुच्छ से शोभित कदली खभो के द्वार बने।
नव हरीतिमा फैली है सावन की चतुर्दिशाओ मे,
पारिजात शेफाली के पावडे बिछे हैं राहो में।





लहराती अंगूर लताए सब जैसे मधुमत्त हुई,
सोमसुरा पी सुर कन्याए विचर रही अनुरक्त हुई।
इन्द्रधनुष पूछते जिनसे अपने रगो की पहचान,
रम्भा के पग रचे महावर-से सुरम्य सुरपुर-उद्यान।

कुसुमित कौमुदी पारिजात चम्पा की पंक्तिया घनी,
स्वर्ग-छटा लगती है जैसे वधू नई हो बनी ठनी,
या असख्यो मोर-युग्म है एक साथ ज्यो नाच रहे,
गुंजित कलरव कलित स्वरो मे विहग ऋचाए बाच रहे।

पुष्पो से लदी लताओ की श्यामल हरित सघनता मे
सुरबालाए नर्तन करती चिर यौवन-मादकता मे।
पत्तो के बीच रिक्तता से छनछन कर आता प्रकाश,
लगता ज्यो कोई लुक-छिप कर करता उनसे हसी-हास।

अधर है उनके स्वर्ण-पत्र पर अगारे दो दहक रहे,
सुरभि देह की जैसे मन मे हरसिगार हो महक रहे।
भोलापन ज्यो कमल झील मे देख रहा अपनी छाया,
अनुपम सुर-कन्याए लगती देवि सौन्दर्य की माया।

मुख से ऐसा तालमेल रखते है उनके दृग चचल,
एक कमल को खिला देख ज्यो खिलते हो दो और कमल।
देह-कान्ति ज्यो झरती रहती हो जल-प्रपात की धार,
शब्दो के स्वर ज्यो झकृत हो मन्द-मन्द वीणा के तार।

कदम्ब-कुसुम की गध-युक्त बहती शीतल मन्द बयार
भावलीन सुधि बुधि भूली रहतीं वे अपनी छवि निहार।
होता रहे भाव-समपर्ण यहा निरन्तर रस-व्यापार
है जीवन का ध्येय यही, उनका यही कर्म-व्यवहार।

दुख का तनिक न लेश यहा है, सुख अनन्त जीवन-परिचय,
यहा भोगते है स्वतन्त्र सब अपना विगत पुण्य-सचय।
इच्छा, भोग, तृप्ति का चलता रहता यहा अबाधित क्रम,
शब्द अजाने यहा सभी है शोक, रोग, भय, चिन्ता, श्रम।

जल उठी एक ज्यो ज्योतिशिखा, हुआ स्वप्न-पट आलोकित,
नारी रूप अचिन्त्य देख हुआ त्रिशकु आश्चर्य-चकित।
दुग्धफेन सी धवल मूर्ति ज्यो पहने वल्कल-परिधान
हुई अबूझे चमत्कार-सी देवि 'कल्पना' मूर्तिमान।

'अरी वेद की प्रथम ऋचा मूर्तिमान कमनीय कौन हो,
आदि सृष्टि की प्रथम चन्द्र-स्मित सी तुम देवि कौन हो?
विश्वमोहनी हो अथवा श्रृंगारयुक्त शान्त रस हो,
या कि सत्य शिव सुन्दर की प्रतिमूर्ति मंजुल सरस हो?

निराकार है हुआ स्यात् सक्रिय सगुण सुशोभा-धाम,
या किसी तत्ववेत्ता की सद्य प्रसूत कल्पनाभिराम?
देवि उर्वशी रम्भा हो या हो रस-व्याख्या साकार?
तुम से ही क्या संचालित है रम्य स्वर्ग-सुख का व्यापार?

क्या सुषमा की हो सुगंध तुम या सुगंध की सुषमा हो
अथवा मूल प्रकृति की कोई अभिनव सृजन-करिश्मा हो।
हो या प्रथम सृष्टि के पहले नीरवता में गुंजित विस्फोट,
या शब्दों के गूढ़ अर्थ में हो अदृश्य ऊर्जा-स्फोट।

यह रूप रूप ही नहीं अचिंत्य की हो ज्यों परिभाषा,
हो भाषा की मूल शक्ति या मुखर दिव्यता की भाषा।
स्वर्ग क्षितिज पर उड़ते तेरे प्रकृति-भृकुटि-से कुंचित केश,
देह-सुरभि तेरी करती है शुचि सारा अन्तर्प्रदेश।

बाधता नही दर्शन जो वह रूपवती रसवन्ती हो,
मध्यमा वैखरी नही, तुम परा हो या पश्यन्ती हो,
अथवा समग्र सृष्टि-उर की हो तुम देवि अनन्त स्पन्दन?
समझ नहीं पाता फिर भी लो मेरा विनम्र अभिनन्दन।

बोली प्रज्ञामूर्ति 'शून्य मे अन्तर्हित सृजन-कामना हू,
आदि सृष्टि की बीज शक्ति, सृष्टा की दिव्य कल्पना हू।
मुझमे निमग्न हो तत्क्षण खो दोगे अपनी भेद-दृष्टि,
द्वैतशून्य चेतनामय होगे तुम केवल पूर्ण सृष्टि।

है मिट जाता मेरे प्रकाश मे दृश्य द्रष्टा का भेद,
एक विराट 'मै' मे विलीन होता सारा अलगाव भेद,
झर झर झरती रस-धार चेतना के उर्वर उपवन मे,
है रस-विमुग्ध रह जाता 'मै' अभिनव भाव-सृजन मे।

ईश्वर की प्रतिभा-शक्ति निरन्तर क्रियाशील रहती हू,
विषयालम्बन-एकत्व-सहज सकेत दिया करती हू।
मेरे प्रकाश मे लाभ हानि कुछ भी है रहता न शेष,
इच्छा और तृप्ति-दूरी घट कर क्षण मे होती अशेष।

खिलती हुई कली मे मै पेरणा अदृश्य हू खिलने की
सरिता के प्रवाह मे हू इच्छा सागर से मिलने की।
ध्वनि मे प्रकाश ज्योति मे ध्वनि चेतना अभेद मन की,
अविभाज्य तरगित गति हू मैं पूर्ण प्रकृति-जीवन की।

कल्पना-सिन्धु से समुद्भूत सौन्दर्य-चेतना हू मै,
रसिक हृदय मे अवगुण्ठित रस-बोध-साधना हू मै।
रस, रूप, गध मे निराकार साकार सन्धि करती हू
कल्पना-तरगो की आभा पत्येक हृदय मे भरती हू।

अप्राप्य प्राप्य अनुभूति मात्र सीमित जीवन की माया,
मन के परदे पर उभरी अतृप्त इच्छा की छल-छाया।
है यहा सुरम्य साकार वस्तुए किन्तु स्थूल नहीं है,
है सुगन्धमय सुमन किन्तु धरती के फूल नहीं है।

अन्तरात्मा से पूछो तुम हो शरीर या केवल मन,
यह स्वर्ग कल्पनालोक यहा जड़ नहीं मात्र हो चेतन।
तन का बोझ लिये हो किन्तु देह पूर्णत है निष्क्रिय,
दैहिक भोग नहीं है सम्भव, है यहा भोग-भाव सक्रिय।

पूछा त्रिशकु ने 'यहा न क्यो देह भोग का होता योग,
तृप्ति अधूरी रहती जब होता न देह मन का सयोग।
अशरीरी अभिसार निरन्तर रागहीन अनुराग सभी,
दिवास्वप्न या इन्द्रजाल लगते सुख-साधन भोग सभी।

है गतिमान यत्रवत सब सुर-बालाओ का व्यवहार,
सारी प्रकृति छटाए लगती भित्त-चित्र सृजन-ससार।
यहा न कोई वृद्ध न रोगी, चिर बसन्त है यौवन का
किन्तु नहीं होता प्रवेश है मन मे किसी और मन का।

जब तक करो न आमन्त्रित है कोई नहीं पास आता,
व्यक्ति व्यक्ति अजनबी यहा है एक एक से कतराता।
स्मित-रेखा चपल सदा खिची रहती है सबके मुख पर
किन्तु न कोई प्रमुदित होता है किसी अन्य के सुख पर।

प्रेम समपर्ण नही यहा लगता जैसे वह है क्रीड़ा,
क्षणिक स्वाद सा प्रेम यहा है नहीं हृदय की पीड़ा।
आलिगन मे देह नहीं ज्यो चन्द्र-रश्मिया हो मिलतीं
अथवा सूर्य-किरण-चुम्बन से अलसित कलिया हो खिलतीं।

है स्वतन्त्र गतिमान सभी रहते यहा तदपि स्थिर,
स्थिरता मे गति, गति की स्थिरता मे लीन निरन्तर
किन्तु ठोस साकार न कोई वस्तु न है कोई प्राणी
सूक्ष्मतापरक है शब्द, अर्थ, सगीत यहा की वाणी।

बोली 'प्रज्ञा', स्वर्गलोक मे है भोग सभी व्यक्तित्वहीन,
यह भाव-लोक है यहा भाव मे जडता होती विलीन।
शुद्ध चित्त होगे केसे जब तक है जकडे देह भाव,
यह लोक देह के लिये नहीं, है केवल मन का पडाव।

जो कुछ भी प्रत्यक्ष यहा कल्पना सत्य का है आभास
केसे होगा साकार ठोस मात्र चेतना का आभास?
लहरो सी उठती गिरती इच्छाए मन की है हरकत,
स्वर्ग-भोग की अभिलाषा जड मे चेतनता की रिश्वत।

धरती पर तो एक साथ मिलते है मरुस्थल औ उद्यान,
यहा एक-रस रहता जीवन मात्र कल्पना की मुस्कान।
कल्पना-लोक मे भावो का हो सकता नहीं विभाजन
मन के अन्तर्विरोध मे होता न कभी रस-निष्पादन।

जीवन के सतत अतृप्ति का कल्पित समाधान है स्वर्ग,
सदकर्मों के पुण्यफलो का आकर्षक विधान है स्वर्ग।
है सम्भावित कल्पना लोक यह नहीं यथार्थ जीवन का,
धरती स्वर्ग-समन्वय-आशा है छद्म छलावा मन का।

यह नहीं देह की कर्मभूमि, मन का उन्मुक्त भ्रमण है,
धरती से सुन्दर नहीं किन्तु यह धरती का अतिक्रमण है।
धरती स्वर्ग सम्मिलन स्वर्ग मे नहीं धरा पर है होता
जिस क्षण मन मे छिपी प्रणय-आभा का दर्शन है होता।

यह स्वर्ग कल्पना-रचित मात्र मन की सौन्दर्य-विभा है,
तन के अधकार को ज्योतित करती सौम्य शिखा है।
एक अचिन्त्य छवि की छाया का है निरपृह अवलोकन,
परे पचभूत-सीमा से चिन्मयता का है स्पन्दन।

धरती के चेतन प्राणी किन्तु यथार्थ भय भरे हुए,
अरितबोध का भार उठाने से नितान्त हो डरे हुए।
स्वप्न-रचित एकान्त द्वीप सुख सत्ता की जादूनगरी,
नही भरेगी कभी तुम्हारे दैहिक भोगो की गगरी।

उद्वेग शान्ति के चिरतनाव मे सदा रहोगे व्यथित,
अनवरत तृप्ति तन की मन को तेरे कर देगी भ्रमित व्यथित।
स्वर्गद्वार पर हो जाता स्थूल भाव का स्वत दमन,
रसानन्द का लोक विषम भावो का होता यहा शमन।

यहा वस्तुए वस्तु नहीं, है प्रतीक सूक्ष्म चेतना की,
ढह जातीं भेद की दीवारे सारी भोग भोक्ता की।
सारे अदृश्य मनोभावो को मिलता यहा मजु आकार,
भाव-द्वन्द्व का होता रहता यहा निरन्तर परिष्कार।

चाहा कभी न कोई व्यक्ति और तुम्हारे साथ बढे,
कभी न कोई और दूसरा साथ स्वर्ग-सोपान चढे।
समझा जिसे स्वतन्त्रता, अस्तित्व-अस्मिता, स्वाभिमान,
है सकुचित अभीष्ट को पाने का क्षमता-अभिमान।

अपनी पीड़ा से तीव्र जब लगे दूसरो की पीडा,
वही मुक्त करुण अनुभव हे स्वर्ग, पर पीडा की पीड़ा।
वाह्य क्रान्ति नहीं करती पूर्ण सतुलन दुख सुख का,
मन की क्रान्ति खोल देती है बन्द द्वार स्वर्ग-सुख का।

तेरा सीमित 'मैं' विरोध मे 'तू' के है निरत निरन्तर,
अपने और पराये के सुख मे सदा देखते अन्तर।
'स्व' का विस्तार करो इतना कि सब कुछ समा जाय उसमे,
'मैं' ही 'मै' रह जाय शेष, 'तू' तेरा समा जाय उसमे।

सर्ग – ४

# संशय

हुआ कहा आनन्द लुप्त क्यो स्वप्न-स्वर्ग हो गया विलीन,
किन्नरियो का नृत्य कहा, है मौन गन्धर्वो की बीन।
हट गई यवनिका माया की, हुआ लुप्त वैभव-विलास,
स्वर्ग आवरण यथार्थ का या जीवन का कटु परिहास?

कहा गया आश्चर्यलोक वह मुग्ध माधुरी छवि-छाया,
कहा गये वे केलि-कुज, क्यो हुई लुप्त सुषमा-माया?
हृदय-चषक मे मधु-धारा वह कौन शक्ति थी ढाल रही,
किस सपने से छला गया, यह किस छलना की चाल रही?

स्वर्ग-भ्रमण की तीव्र लालसा मथती मेरा मन-सागर,
पता नहीं क्या निकलेगा-अमृतघट या विष की गागर?
प्रत्येक दाव हारता रहता कितना है मनुज असहाय,
आशा-शिखर अगम्य उच्च करते साहसी को निरुपाय।

'कुछ करू या न करू, द्वन्द्व यह चलता रहता है भीतर,
जैसे दो-धारा खड्ग चीरता रहता मुझे निरन्तर।
इससे भी अधिक विषम है 'होने' न 'होने' का संशय,
'कौन प्रश्न करता है रहता, कौन दे रहा निज परिचय'?

मै हू अथवा नहीं आज यह प्रश्न नहीं है समीचीन
होने न होने का मध्यबिन्दु नितान्त हू दीन हीन।
बन गई एक गाठ भीतर अप्राप्य प्राप्य की हे उलझन,
खोली थी जिसने हृदय-ग्रन्थि, बना वही मन का बन्धन।

कुछ होना और कहीं होना है क्या बन्धन जीवन का
स्वप्न-सत्य को सत्य समझना एकमात्र भ्रम मन का?
या नीचे से उठना ऊपर है प्रकृति का शाश्वत क्रम,
एक बिन्दु पर रुकने का सुख स्यात् एक अचालित भ्रम?

जो प्रतिपल है परिवर्तनीय और जो रहता शाश्वत,
इन दो पाटो के बीच पिसता रहता हू मै अनवरत।
इसको पकडू या उसको या दोनो का करू समन्वय,
आवश्यक है भूत, भविष्य या वर्तमान का परिचय?

कोई नहीं चल रहा साथ, हू दर्पण का एकाकीपन,
सूनेपन मे है भर रहा क्षण-क्षण जडता एकाकीपन।
स्वर्ग-कल्पना स्वप्न बन गई जिसका नहीं ठोस आधार,
भीतर का एकान्त है फैला ज्यो बाहर वन अध-तुषार।

सशय-तुषार से अध हो गई है मेरी सारी चाहे,
दिशाभ्रमित इच्छाए सारी खोज रही अपनी राहे।
भीतर सुलग रही मेरे आग द्वन्द्व की धीरे-धीरे
बाहर चारो ओर प्रेत है तुषार के राहे घेरे।

धरती से कट गया स्वर्ग-सीमा का भी कुछ पता नहीं,
प्रभ्रमता प्रणय प्रगति-अन्वेषी एक बिन्दु पर रुका नहीं।
सतत् गूजती कानो मे आवाजे विपरीत दिशा की,
जैसे लडता हो भोग-सूर्य सेना से त्याग-निशा की।

हिसक सेना के बढते ज्यो एक साथ असख्यो पाव
करते नष्ट भ्रष्ट राह मे पडने वाले सारे गाव,
वैसे ही धुधले चित्र उभरते जो राह मे आशा के,
तहस-नहस कर देते उनको झझावात निराशा के।

व्यक्ति-चेतना टूट टूट कर हो जाती क्षण मे खण्ड-खण्ड,
आती जब अन्तर्प्रदेश मे है सशय-झझावात प्रचण्ड।
निश्चय-वृक्ष धराशायी करता सशय का पवन प्रबल,
पत्तो सा होता कम्पित हर वायु-वेग से मन दुर्बल।

प्रज्ञा देवी की बातो से हिल उठा आस्था का आधार,
अस्तित्व चीरती है शकाए आरी से धारदार।
विश्वास तुला के पलडो पर झूल रहा नीचे ऊपर,
देह भोक्ता या मन चचल, या कोई चेतना प्रवर?

सच है स्वर्ग नरक का कोई होता नहीं निश्चित स्थल
वहीं स्वर्ग है, नरक वहीं पर जहा रुका हो मन चचल।
चिर यौवन अनन्त वैभव का है नहीं कोई [illegible]
क्या भ्रम ही है प्रकट हुआ भीतर बाहर बनकर [illegible]?

है जो नहीं वही क्यो बनता कभी आस्था का सघर्ष
कभी पराजय ही लगता क्यो अन्तर्निहित विजय उत्कर्ष?
कभी विदूषक से लगते हम स्वय स्वय पर हसते,
आस्तीन मे छिपे नाग ही क्यो मनुष्य को है डसते?

गुरु के शब्द सत्य है या सच मन का स्वप्निल विश्वास,
अथवा कुछ भी है नहीं सत्य, सबकुछ है असत्य-उच्छ्वास।
यदि असत्य की है स्थिति क्यो होती इसकी सत्य-प्रतीति,
सच मे झूठ, झूठ मे सच की होती है झिलमिल अनुभूति?

इस तुषार के अधकार मे सूझता न कोई पथ प्रशस्त,
शायद किसी गुह्य गह्वर मे हुआ चेतना-सूर्य अस्त।
धुआ धुआ है मौन दिशाए, नीचे ऊपर धुआ धुआ
जहा खडा हू लगता है धूए का कोई अतल कुआ।

कितने रूप बदलता रहता है 'स्व' का अमूर्त जादूगर,
कौन उधेडता है रहता अगणित परतो की चादर?
इन परतो मे कहीं छिपा है शायद मेरा प्रतिद्वन्द्वी,
वह मेरा बन्दीगृह है या वह है मेरा ही बन्दी?

मै स्वय 'स्वय' को रहा देखता अपने जीवन-दर्पण मे,
अब अपने को भी नहीं देख पाता हू इस धुधले मन मे।
शायद 'स्व' की पहचान खो गई है इस तुषार-वन मे,
कौन उसे है खोज रहा हू पड़ा इसी उलझन मे?

दिशाहीन नाचता विश्व है जैसे एक भयानक बिम्ब,
रचता स्वयं मिटाता क्षण क्षण है वह अपना ही प्रतिबिम्ब।
कोई नहीं विधायक स्रष्टा, संचालक रहता अज्ञात,
अंध गुफा मे लिये मशाले चलती अंधो की बारात।

महात्रासदी का है लगता खुला मंच अस्तित्व-पटल,
कोई नहीं सत्य है निश्चित, नहीं एक सिद्धान्त अटल।
जोड-गांठ कर रचता जो विवश मनुज अपना परिवेश,
अनजाने बन जाता कैसे वही अराजकता-प्रदेश।

चेतनमन था रुका जहां सरहद पर अर्धचेतना की
क्या वही बिन्दु था जन्मभूमि मेरी स्वर्ग-कल्पना की।
वही बिन्दु स्यात् कोहरे की घनी घटा का है उदगम
कौन आदमी के मन से खेल खेलता रहता निर्मम?

क्या जाना जहा चाहता हू मै पहले से वहीं खड़ा हू,
अथवा 'जाऊँ या न जाऊँ'- इस निर्णय-मध्य पड़ा हू?
पीड़ा है संशय की या स्वर्गारोहण साधन-अभाव,
भ्रमित बुद्धि है डाल रही अन्तर्मन पर भीषण दबाव?

'स्व' ही 'स्व' का परिचायक है, 'स्व' से फिर विराग क्यो हो
'स्व' ही होगा स्वर्ग-भोक्ता, 'स्व' का परित्याग क्यो हो?
'स्व' शरीर का नाता यदि केवल सत्य स्वप्न का है,
स्वर्ग-भोग की सतत कामना परिचय किस निजत्व का है?

सशय-ग्रस्त त्रिशकु ने सोचा खोजे किसकी आज शरण,
किस मन्त्र विज्ञानशक्ति से होगा सदेह स्वर्गारोहण?
वही व्यक्ति जीवित है जो करता अन्त प्रेरणा सम्मान,
मृत्यु पूर्व है मरा हुआ जो करता जीवन का अपमान।

सोचा गुरु के प्रतिद्वन्द्वी ऋषि ज्ञान-विभा से ज्योतिमान,
मेरी जीवन-पीडा का कर देगे निश्चित समाधान।
प्रेरित इसी ध्येय से वह चल पडा राजऋषि-आश्रम ओर,
स्वर्ग-भोग की इच्छा-झझा देती रोम-रोम झकझोर।

ऋषि के समक्ष हो विनत किया त्रिशकु ने अभिवादन,
स्वर्ग सदेह गमन की इच्छा का किया विनम्र निवेदन।
बोले विज्ञानी तपोनिष्ठ करता हू ऐसा विधान,
यज्ञ-धूम बनेगा तेरा स्वर्गारोहण-साधन-विमान।

हे स्वजन-प्राण रक्षक! हू ऋणी तुम्हारा नृपनन्दन,
भेजूगा अमरावती तुम्हे या कर दूगा नव-स्वर्ग-सृजन।
समस्त तपस्या-फल देकर तुम्हे भेजता हू ऊपर
निसदेह पहुचोगे तत्क्षण मन्त्र-पख पर तुम चढकर।

प्रकृति-नियम के था विरुद्ध स्वर्ग सदेह जाने का योग,
होता सम्भव नहीं देह से कभी दिव्य सुखो का भोग।
चिन्मयता-प्रहरी देवो ने त्रिशकु को नतमुख दिया झोक,
मन्त्र-शक्ति से ऋषि ने उसे मध्यगगन मे दिया रोक।

सर्ग – ५

# स्वप्न-भंग

खींच नहीं क्यो पाता ऊपर मुझे स्वर्ग का आकर्षण,
नही अभावपूर्ण धरा का है शेष तनिक आकर्षण।
कैसी विषम विवशता, सारे द्वार पलायन के है बन्द,
आशका ने तोड दिया जीवन-कविता के ताल छन्द।

उच्च शक्ति का ऊपर से पड रहा सतत भीषण दबाव,
ऋषि प्रेरित मन्त्र-शक्ति को करता रहता है निष्प्रभाव।
उठना गिरना दोनो वर्जित यह बिन्दु जहा जकडा हू
इस अनन्त शून्य आचल पर लघु धब्बे सा एक पडा हू।

मन स्वर्गलिप्त तन टगा हुआ है इस नितान्त विजन मे,
मै बटा हुआ व्यक्तित्व कहा सुख सम्भव है जीवन मे।
सुख-चिन्ता पनपी मस्तक पर ज्यो अतृप्ति के तीन बाण,
काटे से गड़ते रहते अब भूत अनागत वर्तमान।

इच्छाए ऊपर धकेलतीं और वर्जनाए नीचे,
दो पाटो के बीच पिसा करता हू मै आखे मींचे।
है कोई सुन सकता यहा नहीं वेदना की आवाज
चारो ओर प्रकाश है किन्तु लगता अधकार का राज।

गूज रही हे 'साय-साय -सी 'नहीं-नहीं जैसी आवाज
महाशून्य मे केवल हो जैसे 'नहीं-नहीं का राज।
कौन नकारता रहता है अपना ही अस्तित्व-विचार,
है कैसा अस्तित्व कि जिसमे अनस्तित्व का है सचार।

कभी कभी शका हो जाती मृत हू या मै हू जीवित,
घूमता हुआ उपग्रह हू या एक बिन्दु पर हू स्थित।
महाशून्य आकार लिया है मन ने सुख-जिज्ञासा मे,
जिसमे मैं टग गया मूर्तिवत् स्वर्ग-भोग की आशा मे।

इस विराट शून्यता मे ग्रह तारे जुगनू से लगते
किसी अबूझी चिन्ता मे वे व्यथित निरन्तर है जलते।
कहीं नहीं दिखाई पडता चारो ओर क्षितिज का छोर,
जैसे काल अनन्त फैला, कहीं न दीखता ओर छोर।

सूर्य चन्द्र का नहीं सक्रमण, नहीं विभाजित काल यहा,
बन गई अतृप्ति-पीडा अनन्त महाकाल विकराल यहा।
सोच नही सकता कवि कोई कैसी मेरी अकुलाहट,
निर्जन मे हर सास नई दुश्चिन्ता की है कटु आहट।

वाष्पगुच्छ उडते रहते ज्यो हीनता के उच्छ्‌वास,
पोषक समीर है नहीं यहा, अनवरत फूलती रहती सास।
टूटती जुडती श्वासो का हू एक अनन्त अवाछित क्रम,
अथवा जडवत हो गया देह मे स्वर्ग-सुखो का पालित भ्रम।

लगता है युग बीत गया धरती से जब से हुआ दूर
कभी एक क्षण बीता लगता है रहस्यमय समय क्रूर।
कितने केन्द्र नाचते रहते कितने है परिधि गतिमान,
करता है नटराज किसलिये महाशून्य का चिरविधान।

पता नहीं किस परिधि-पख पर उडकर यहा पड़ा हू मै,
अथवा उडते किसी त्रिभुज के कोणो से जकडा हू मैं।
स्यात् समय गुब्बारा है फूलता सिकुड़ता अन्तहीन
जिसके भीतर भुनगे सा मै भटक रहा हू दिशाहीन।

मैं एक वृत्त हू जिसे न दूसरा वृत्त है छू पाता,
कभी परिधि से टकरा मेरी दूर बहुत है हट जाता।
या हू लघु द्वीप है जिसके चारो ओर अनन्त सागर
क्यो मेरा सुख-स्वप्न विषम निर्जनता मे हुआ उजागर?

लगता हू अदृश्य से जैसे टूटा हुआ नक्षत्र-अश,
या किसी वाक्य का त्यक्त अनावश्यक शब्द-अपभ्रश।
अथवा हू आकाश-भित्ति पर टगा एक घिनौना चित्र,
निर्जन मे एकाकी नितान्त हू यहा न कोई शत्रु, मित्र।

धरती से लगता हूगा मे सृष्टिसुमुख पर एक दाग,
या कुण्डली मार बैठा हो प्रकृति-अक मे विषधर नाग।
आशा, इच्छा आशका के तीन विषैले क्लेश-बाण,
मेरे ही भीतर उगे बढे मेरे ही ले रहे प्राण।

यहा नही है क्रियाशील धरा के देशकाल प्रतिमान,
फिर भी गडते है त्रिशूल से भूत अनागत वर्तमान।
अत्यन्त अनोखी स्थिति है यहा मुक्ति और बन्धन की,
क्या कभी खोल पाऊगा मै ये उलझी गाठे मन की?

क्या भोग-सीमा मे आजीवन बधने का यह परिणाम,
है बना प्रगतिमय जीवन के आरोहण का अथ विराम?
यहा विराम विश्राम नहीं हर क्षण है सर्प-दश-अनुभव,
नहीं मूर्च्छा, स्वप्न न निद्रा है जागृत पीडा सभव।

महाशून्य म सिसक रही मैं क्षुब्ध विखडित वीणा हू,
पीडा से पूर्ण पलायन कर बन गया स्वय ही पीड़ा हू।
शब्द सार्थक नहीं यहा प्रतिध्वनियो की है टकराहट,
जैसे अधगुफा मे हो गतिमय ककालो की आहट।

रहा सोचता भोग-सिद्धि के बिना पूर्ण व्यक्तित्व नहीं,
स्वप्न-स्वर्ग को सत्य मान बैठा जिसका अस्तित्व नहीं।
ढाक-पात से ढके जाल मे ज्यो निरीह पक्षी फसते,
वैसे मनुष्य भी भ्रमदलदल मे है अनायास धसते।

कटा चग हू ऐसा मै जो चिपक गया हो नभतल मे
या एकाकी पथिक हू आधा धसा हुआ मै दलदल मे।
यहा न जीवन मरण समस्या है मात्र अभिशाप अनन्त,
कहा अनन्तता मे सम्भव जीवन और मृत्यु का अन्त?

किस पीड़ा मे तड़प रहे टिमटिम करते नक्षत्र-समूह
स्यात् विनाशभय के विरुद्ध निर्मित है उनका चक्रव्यूह।
चाहा चिर प्रकाश मैने क्यो मिला मुझे यह अन्धकार
अन्तर का अधकार ही क्या फैला है बाहर तुषार?

दिशाहीन विजनता से भयभीत हू मै, आतकित हू,
साफ नहीं दीखता यहा कुछ अधेपन से आशकित हू।
उद्देश्यहीन जीवन ही बन गया स्यात् यह अन्धापन,
मरना सम्भव नहीं मुझे जीना है यहा विषम जीवन।

अचल बिन्दु पर पहुच रुक गया मेरा कुछ बनने का क्रम,
ठोकी जैसे कील शून्य मे मिटा पूर्ण होने का भ्रम।
बनने होने का दबाव पड रहा यहा नीचे ऊपर,
स्वप्नभग हो गया, मुझे कुछ भी न मिला सब कुछ खोकर।

मै ही क्या उत्तरदायी हू हतभाग्य बनी इस परिणति का,
सकुचित स्वार्थ स्यात् है कारण इस दयनीय नियति का?
भोगवाद बन गया अन्तहीन उदास जडता का भोग,
स्वर्ग सदेह जाने के बदले मिला अवाछित सयोग।

है कार्य कारण सम्बन्धो से वनता सह जीवन-क्रम,
भुला सत्य यह मै पाले था मन मे एक अवांछित भ्रम।
परे कार्य कारण से है स्यात् स्वर्ग का चिर व्यापार,
कैसे भूल गया स्वर्ग है देह नहीं मन का ससार।

गवा दिया अपनी स्वतन्त्रता इच्छा के हाथो बिककर,
जिसका ही फल भोग रहा हू मै एक विन्दु पर रुक कर।
एक बिन्दु पर रुक जाना थी शायद सबसे वडी भूल,
स्यात् अह-विकास की आशा वनी आज यह विषम शूल?

स्वार्थपूर्ण यात्रा का फल है क्या एकाकीपन,
है उर्ध्वगमन का अर्थ कुछ नही मात्र एकाकीपन?
एक खोखलापन है भीतर बाहर मुझ को घेर,
प्रेत निराशा, दुश्चिन्ता के डाले है मन मे डेर।

भोगवाद को मान लिया जीवन की यात्रा उर्ध्वमुखी,
आत्मकेन्द्रित यात्रा मे सोचा न कभी है कौन दुखी।
वना न मै क्रान्ति-द्रष्टा, बन सका न शान्ति का पोषक,
कभी न सोचा कैसे शोषित, रग वदलते क्यो शोषक?

कभी न सत्य के लिये लड़ा मै किया न कभी असत्य-विरोध,
स्वय स्वय से छला गया, छल का न किया कभी प्रतिरोध।
समझा जिसे महत्वाकाक्षा, सच्चा आत्म-विश्वास,
वही मान्यता करती है मेरे जीवन का परिहास।

धरती की सुषमा से क्यो था मैं आजीवन उदासीन,
भोग-तृप्ति साधना रही, था सम्बन्धो मे हृदयहीन?
जली न अन्तर्द्वन्द्व-अग्नि क्यो कभी न पश्चाताप हुआ,
कभी न पीड़ितो दलितो की नियति देख सताप हुआ।

भूल गया वायु धरा की खोलती बन्द हृदय के द्वार,
भूल गया गध धरती की रचती सदा स्नेह-ससार।
है अदृश्य सूक्ष्म भावो को मिलता यही मजु आकार,
भावो मे अन्तर्निहित द्वन्द्व का है होता परिष्कार।

धरती पर सबके सुख दुख सौहार्द पालने मे पलते,
क्लेश कलह के काटो मे भी रम्य प्रीति-पुष्प खिलते।
स्वर्ग नरक एकाकी मन की सीमाओ के हैं प्रतिफल,
धरती पर एक साथ पनपते घृणा, द्वेष, प्रेम निश्छल।

होगा स्यात् धरा पर इस क्षण सुप्रभात सुखमय स्वर्णिम,
पूर्वी क्षितिज पर खेल रही होगी स्मित रेखा अरुणिम।
होता होगा मत्रपाठ-सा मधुर पक्षियो का कलरव,
किरण-किरण क्रीड़ारत होगी तरु-तरु, पल्लव-पल्लव।

सध्या होगी बिहग नीड़ की ओर उड़े जाते होगे
गोचर से लौट गाय बछड़े गोशाला आते होगे।
रजनी की नीरवता भी विश्राम मधुर देती होगी,
आशाए उपलब्धि-अक मे पग पसार सोती होगी।

आशाओ के वृक्ष पहन कर स्वप्निल तत्काल परिधान,
मदमस्त झूमते होगे प्रतिदिन सध्या और विहान।
कण-कण से फूटती होगी ममता स्नेह की दुग्धधार,
निर्जनता पाई मैने धरती के रिश्तो को आकार।

वर्षा मे नभ से भू पर मोतिया असख्य झरती होगी
कमनीय युवतिया झूलो पर नभ पेग भरती होगी।
नूपुर असख्य बजाती होगी झींगुरो की झनकार
या जैसे एक साथ बजते हो वीणा के लाखो तार।

रग दिया शरद ने नव रग मे होगा शुभ्र प्रकृति-परिधान
लहराते होगे स्वर्ण झालरो से खेतो मे धान,
होगा यदि शीतकाल तो बैठ अलाव के चारो ओर,
सम्बन्धो की व्यथा-कथा कहते होगे सध्या भोर।

नव वसन्त मे केसर-सी बिखरी होगी प्रकृति-मुस्कान
शस्यश्यामला धरती लगती होगी पुष्पित उद्यान।
करती होगी नृत्य सुरभि सुमनो से लदी लताओ मे
उल्लास झाकता होगा अधखुले नवल-कलिकाओ मे।

खलिहानो मे फैली होगी ग्रीष्म की सोधी सुगध,
घर घर मे छाई होगी पकवानो की मोहक सुगध।
मृदुल झकोरे पखे झलते होगे घनी नीम की छाव,
स्नेह-सूत्र मे बधा वहा एकत्रित होगा पूरा गाव।

परदेशी पतियो की प्रेयसि विह्वला प्रतीक्षारत होगी,
प्रणय-परीक्षा निष्ठा की मूर्तिमान तप व्रत होगी।
मौन प्रतीक्षा प्राणो का बनती होगी नव स्पन्दन,
क्षण क्षण की प्रीति-प्रगति भर देती होगी सूनापन।

स्यात स्वर्ग है जहा मूक ममता प्राणो मे गति भरती,
अथवा वहा जहा अश्रु की बूदो सी है करुणा झरती।
जहा द्वेष से अधिक स्नेह और स्नेह से जुडी है प्रीति,
सुरपुर वहा जहा प्रीति-प्रण सहज निभाने की है रीति।

सुरपुर वही जहा शुभ सौदार्द-सुमन खिलते रहते
जहा मिटाकर अहकार है छोटे बड़े गले मिलते।
दीवारो स बटे हुए भी बटे न मानव का परिचय,
वही स्वर्ग है जहा आदमी करता मात्र प्रेम-सचय।

मेरे पास बची आज है केवल स्मृतियो की थाती,
किन्तु मधुर सुधिया सुखमय क्यो है मुझे सताती?
यहा नहीं आ सकता कोई, सुधिया कैसे आ जाती,
अनबूझे अभाव की पीडा रिक्त हृदय मे भर जाती?

है यादे उठ रही हृदय मे जैसे बीजो से अकुर
मडराती है मन पर जैसे फूलो पर अनुरक्त भ्रमर।
उमड रही है घनी घटाओ-सी भूली बिसरी यादे
कौंध रही है रह रह कर अनचाही यादो की यादे।

कसक रही है काटे-सी 'प्रिय' शब्द श्रवण की अभिलाषा,
रेंग रही ज्यो सर्प नसो मे मधुर मिलन की आशा।
विद्युत-लहरो-सी उठती है स्मृतियो की सिहरन,
विष-सागर मे डुबकी लेता रहता है एकाकी मन।

दूरागत वशी-स्वर सी स्मृतिया मडराती रहती,
इस नीरव निर्जन की जडता से टकराती रहती।
स्मृतिया टूटती नही, टूटता रहता हू मै क्षण क्षण,
बाहर धुए-धुध मे मेरा खो जाता टूटा कण-कण।

सुधियो की सीढी वनती धरती पर स्वय उतर जाता,
या होती क्षीण-मन्त्र-शक्ति मे शीघ्र वहा पहुच जाता।
पख निकलते शब्दो के, उडकर ले जाते मुझे वहा
अश्रुकणो से धुली आख मे इन्द्रधनुष लहराते जहा।

वन्द कक्ष मे अपहृत वालक-सी है सिसक रही सुधिया,
विधवा के आसू सी ढलती है सब अर्थहीन सुधिया।
महासिन्धु मे दिशाहीन पक्षी-सी भटक रही सुधिया,
नभ से धरती पर कैसे उतरेगी पखहीन सुधिया?

बाधे है कसकर मुझे आकर्पण का दोहरा दबाव,
इस दबाव-द्वन्द्व का फैला है बाहर भीतर प्रभाव।
है अतृप्ति बन गई तरल अभिशप्त नदी की प्रबल धार,
कहते होगे सब वहा गिरती है मेरे मुह की लार।

नीचे ऊपर अतल शून्य है फिर भी मै यहा टिका हू,
इच्छाओ की गुप्त अर्गला मे बधा हुआ लटका हू।
सब कुछ छूट गया धरा पर केवल मन ही है पाथेय,
मन अनुभव अनुभवकर्ता, मन ही मन का अनुभव-ध्येय।

चाहा मैने स्वर्ग किन्तु पाया अतृप्ति का यह अमरत्व,
भोगना प्रलय तक है शायद जड निर्जनता का घनत्व।
भोगवाद का चिर प्रतीक मै चर्चा मे सदा रहूगा
युग-युग उस युग की भाषा मे मै अपनी व्यथा कहूगा।

क्या और त्रिशकु भी कामना-काटो से लटके होगे,
मौन विवशता की झझा मे इधर उधर हिलते होगे?
सम्भव है सम्पर्क नही मै कैसे उनसे बात करु
कैसे करुण व्यथा-कथा सशय की पीड़ा ज्ञात करु?

सम्पर्क-शून्यता त्रिशकु की है सर्व प्रमुख पहचान,
कौन करेगा धरती पर उनकी पीडा का समाधान।
यदि मिला तृप्तिमद के बदले उन्हे अतृप्ति-वरदान,
मेरी पीडा से अधिक कठिन उनके दुख का है निदान।

कुछ त्रिशकु सशय, आशा के बीचो-बीच अडे होगे
कुछ निर्णय और अनिर्णय-दलदल मे धसे खडे होगे।
कुछ भोग अतृप्ति पलडो मे झूलते हुए बटे होगे,
कुछ अपने गत को भविष्य की गाथा सुना रहे होगे।

कई त्रिशकु कल होने के भ्रम मे डोल रहे होगे,
कई 'न होने' 'होने' की गाते ही खोल रहे होगे।
कुछ होगे असमजस मे किस पथ से वे जाये ऊपर,
कई त्रिशकु सोचते होगे, है स्वर्ग गगन या भू पर?

कुछ त्रिशकु बन्दीगृह अपना स्वय सजा रहे होगे,
कुछ अधकार का मोह लिये दीपक बुझा रहे होगे।
कुछ जीवन को जुआ समझ फेक रहे होगे पासा
दाव लगाये कभी पराजय कभी लाभ-चिन्ता आशा।

कुछ अनर्थ मे अर्थ खोजते होगे उलझे अस्तिजाल मे,
फसे तडपते होगे बेबस दोहरेपन के विकट जाल मे।
कुछ सोयी सर्जना-शक्ति की ऊष्मा नाप रहे होगे,
जीवन और मृत्यु-इच्छा-भय-झझा मे काप रहे होगे।

कुछ त्रिशकु अस्तित्व-बोध की खोज रहे होगे भाषा,
कितने गति से भिन्न प्रगति की करते होगे परिभाषा।
कितने और नाचते होगे अपनी अज्ञात धुरी पर,
अपनी परिधि छोडकर होगे लटके खिचे दूसरी पर।

कुछ त्रिशकु अपने सलीब पर जीवित लटक रहे होगे,
कितने राग, विराग, द्वन्द्व मे खोये भटक रहे होगे।
कुछ अपने उलझे केशो पर साध रहे होगे वीणा,
कुछ पीडा को उपचार समझ माग रहे होगे पीडा।

कुछ त्रिशकु दिवधा मे होगे कौन श्रेष्ठ है मन या धन,
कुछ अपने ही हाथो होगे तोड रहे अपना दर्पन।
कितने स्वर्ग-स्वप्न मे रगते होगे अपना विश्वास,
कुछ त्रिशकु नापते होगे अपना ही अतृप्ति-उच्छवास।

अधे भविष्य के लिय आज कह देता हू अन्तिम बात,
यह आकर्षक भोगवाद अन्तत बनेगा काली रात।
भोग करू यह भी वह भी होगी जिनकी इच्छा आशा
उनको नियति सिखा देगी निश्चित असन्तोष की भाषा।

यह किसका स्वर पड रहा सुनाई, कौन गा रहा है अतुकान्त,
भटक रहा धरती पर है कोई त्रिशकु दिगभ्रमित अशात।
या यहीं कहीं उल्का सा कोई चक्कर काट रहा है,
चिरपीडा-प्रदेश मे अपनी नव पीड़ा बाट रहा है।

सर्ग –६

# अभिनव त्रिशंकु

जिन्दगी जन्मी थी
समुद्री तूफान से
एक भयकर विस्फोट के साथ
मृत्यु भी आई साथ-साथ
किन्तु मै क्षण क्षण फूटता हू
दगता हू धमाके के साथ
एक चुप्पी छा जाती है
भीतर बाहर
जो न जीवन है न मृत्यु
खोजता रहता हू
मन के कोने-कोने मे
जिन्दगी कहा रुकी है
मृत्यु छिपी है कहा-
विस्फोट या चुप्पी मे
जबकि दोनो उछलती रहती है
समुद्री ज्वार की भाति
मेरी हथेलियो पर।

कैसा ज्वलन्त उपग्रह-सा
मडराता है चारो ओर
चिन्ता का पापग्रह
रुक जाता है मेरे समक्ष
क्षण भर आईने-सा
सरक जाता है फिर आगे
मुझे सूनापन दिखाकर,
कैसा उपहास यह
भित्त-चित्र सा मुझे
टाग दिया किसी ने
स्वर्ग-द्वार पर,
दाये बाये पीछे मुडना अशक्य
बार बार आता है समक्ष
चकाचौंधी आईना नटखट
बन्द है पलायन-द्वार
भूत या भविष्य मे,
हसता है ठठाकर
निर्मम अनन्त वर्तमान
मेरी विवशता पर।
सच है असम्भव है
जल के बिना जीना
मछलियो का
एक क्षण
हवा के बिना आदमी का
किन्तु कोई रास्ता होगा ही
अधकार से निकलकर
रोशनी मे चलने का,

निर्जनता से उबरकर
समूह मे रहने का
आदमी बनने का।'

कभी नहीं सोचा था
कैसा लगता है
मृत्यु-भय और जीवन की
ललक के बीच
उल्टे लटके रहना बेबस
शून्य मे अनन्त तक
जब मृत्यु हो अनिश्चित
और जिन्दगी अधूरी
कैसा लगता है नाचना
आकाक्षा के ताल पर
स्वप्न-भग्न की धुरी पर?

राह के हर मोड पर
वस्तुओ का पहरा है
उनकी चमक दमक
रूप-रग
आकर्षण
आदमी से गहरा है
सारा व्यापार नकद,
माल है बहुत कम
मनाही है मोलभाव की
चुनाव है यातना
भोग की चाह या
भोग से मुक्ति का,

घर की रिक्तता मे
किन वस्तुओ के चेहरे भरु,
पूजा किसकी करु
शालिग्राम या तिजोरी की?
क्रय के लिये अपना
बिकना मजबूरी है।

क्यो मडराती है चारो ओर
किसी लावण्यमयी देह की गध
मन को सहलाती हुई
पैठ जाती है आत्मा मे?
पूरा नहीं होगा कभी क्या
आत्मा का शरीर की बाहो मे
जकड जाने का क्रम?
बरसती क्यो नहीं
देह की घनघोर घटा
मन मे धुआधार
आत्मा डूबे बार-बार
मुक्ति की छटपटाहट भूल कर?
क्या चलता रहेगा खेल
तन की गुदगुदी से उद्भूत
मन की सिहरन और
आत्मा की मुक्ति का द्वन्द्व
प्रलय तक?

एक यह दुनिया-
बन्दूक की नाल के

सीध मे मेरी नाक
सपने मे भी आती है बारूद की गध
बढ जाती है धड़कन
नसो की ऐंठन,
दूसरी वह दुनिया है
सुषमा सुगन्ध की
सुगन्ध और मन के बीच
छिपे सम्बन्ध की,
दो सदियो की सन्धि-बिन्दु पर
मै हू कहीं यदि अर्थप्राण
सुगन्ध और आतक के बीच
त्रिशक सा लटका हू।
खोजू कैसे अर्थ
सौन्दर्य-स्वप्न का
लटका रहू लट्टू सा
शोर भरे शून्य मे
अथवा विद्रोह करू,
करू तो कैसे करू?

कमल की अरुणिम आभा से खेलती
ऊषा की अठखेलियो-सी
भोग की कामनाओ और
बीहड वन मे सन्निकट सिंह की
दहाड-सी वर्जनाओ के बीच
थर थर कापता त्रिशकु,
पाने की उमग और न पाने की विवशता के
द्वन्द्व का प्रतीक मै

रहता हू बाजार मे वस्तुओ का
आकर्षण-बाण प्रतिक्षण
मन पर स्वप्न त्रिशूलो का आक्रमण।

सपने ये वैभव का मणिमुकुट
सत्ता की स्वर्ण-छडी,
रूपसी अभिसारिकाए
बनकर छा जाते है मन पर ज्यो इन्द्रधनुष,
भोग का अगम्य रम्य स्वप्नलोक
आखो के आगे झलकता है झिलमिल
मे अपना आपने ही आगो की आच मे
मोम-सा गलता रहता हू तिलतिल।

उछलती है देह तप्त हथेली पर
चमचमाती सिक्के सी
बजती है टनाटन,
धडल्ले से चलती है खुले बाजार मे
मुक्ति और बन्धन की उलझी हुई रस्सी से
देह और आत्मा को बाधना हू चाहता।
किन्तु खोटा है सिक्का आत्मा का
पुराना है प्रचलन बन्द
बाजार से बहिष्कृत, शब्दकोशो मे बन्द
फिर भी चौकता रहता हू सपनो मे
इसकी आवाज पर।

एक खूनी पजा
दो नाखूनो से पकड कर

उठा लेता है मुझे बार-बार
हिमालय के उत्तुंग शिखर से
गिरा देता है नीचे
मृत्यु के पैरो की धूल चाटने के लिये।
दिखाकर सोने की चिड़िया
छा जाता है मन पर
रंगीन सपनो की भांति,
खूनी पंजा
निचोड़ लेता है सारा खून
मधुर पेय पिलाकर।
अच्छी लगती है उसे
अभावग्रस्त हड्डियो की कपकपी
पिघलते पसीने की थरथराहट
इच्छाओं की बेचैन करवट
अच्छा लगता है उसे
आम आदमी की बेबसी,
सुख स्वाद के भुलावे मे
डिस्को नाचते हुए
खास लोगो की ललचाई हंसी।

कैसा फेंका है उसने चमत्कारी जाल
जकड़ते जा रहे है छोटे बड़े, खासो-आम
नगर की नवेलिया करती है
उसका सतत गुणगान
अर्धनग्न करती है
उसके चमत्कारो का बखान,

उसका हर मुखौटा है तिलिस्मी
हर नुस्खा बेमिसाल,
पुरुष अपने गंजे सिर खुजलाते हुए
टटोलते रह जाते है फटी जेबे
स्त्रिया सरक जाती है
गिर जाती है
सिक्को के साथ
दूसरी गरम जेबो मे
एक मजबूर खनखनाहट के साथ,
खूनी पजा बढता जाता है
सुरसा के मुह की भाति
गिरती रहती है उसके मुह की लार
मेरे ही ऊपर।

जिन्दगी झुझलाई हुई मौत शरमाई हुई
लौट लौट जाती है मुझे देखकर,
निर्णय का बोझ धरे सिर पर
अनिर्णय के दलदल मे
धसा फसा खडा हू
भोग और अभोग के दोराहे पर
मील के पत्थर-सा जडा हू
मै त्रिशकु!

नुकीले दातो से काटता रहता है
दिन भर सूनापन,
सपन ही सपने आते है रात भर-
कोठी है कार है

सेल्युलर फोन भी,
नोकर है, चाकर है
जयजयकार भी
मन मे न घुसे कोई
खिडकियो किवाड कर लेता हू बन्द
किन्तु सपनो के छेद से
बाहर झाकता हुआ
बाहर और भीतर के बीच
लटका रहू कब तक?

लाखो का बीमा है
लाखो के शेयर
तहखानो मे छिपाया है सोने का ढेर
फिर भी कम पडते है मृत्यु को भुलाने के
सारे साधन, उपाय
बाहर इच्छाओ का सागर गहरा है
भीतर रिक्तता के
प्रेतो का पहरा है,
भागू किस ओर मै
बाहर या भीतर
खतरा ही खतरा है?
कितना उधेडू अपनी ही परते,
मौत भी बताती नहीं जिन्दगी की शर्ते।

भयानक है स्वप्न-
सोना चादी से अटी-पडी
भरी हीरे जवाहरात से

डूब रही है नाव बीच मझधार मे
लहरो की मार से,
डूब रहा हू मे मन के सेलाब मे,
डूब रहा हू में
ऊब रहा मे
डूब और ऊब के बीचो-बीच भवर मे
लगडी-सी जिन्दगी काटती है चक्कर
नाव ज्यो बिना पतवार की।

यह कैसा सपना है-
घोर घना जगल है
कोई नहीं अपना है
भेडियो का दगल है,
भेडियो को देखकर
भूकते है कुत्ते
मालिक की जजीरो मे बधे हुए,
भेडियो का आदमी पर निरतर आक्रमण
होनहार बच्चो का होता है अपहरण
जगल से लौट कर आता है आदमी
भेडिये और आदमी के
सयोग का नव सस्करण
भेडिये से अधिक खूखार, भयकर।

सच है या सपना है-
टूटे हुए आइने मे
बीच से कटे हुए चेहरे है
टुकडो मे बटे हुए

चेहरे बता सकते नहीं
वे किसके चेहरे है
मेरे या आईने के
या आइने के बीच मे झिलमिल
चेहरो को पकड कर लटका हू
मै त्रिशक?

सपने ही सपने-
छाये हे बादल बन
समता समाजवाद, सस्कृति के
गरजते अर्थहीन स्वर
बरसेगा क्या आज देश की
सूखी धरती पर
फूल पानी या पत्थर"
बीमार बिस्तर से बधा हुआ
सपनो से छला गया क्या करु
मै त्रिशक?

आते हे सपने अजीब
जिन्दगी के इतने करीब-
एक सर्प अति विशाल
पूछ वाले मुह मे
पसरा है धरती पर
योग ज्यो भोग मे समाधिस्थ
आदि ज्यो अन्त मे
जीवन ज्यो मृत्यु मे,
कुछ लोग लिपटे है पूछ से

कुछ लोग मुह मे है सारक से
मणि की खोज मे,
कुछ लोग चिकनी पीठ से
फिसलकर गिरते है औंधे मुह
धरती पर धड़ाधड़,
स्वय को खोजता मै
सोचता हू, कहा हू-
साप के पेट मे
मुह मे या पीठ पर?

किसकी आवाज थी
नींद के गलियारे मे गूज उठी
सिंह के दहाड़-सी
सिह जो लोगो को घायल कर
शब्दो को खा गया
मूल्य और अर्थ को [illegible]या चबा गया
'बाघ-बाघ' करते ही रह गया गाव भर
बाघ भेष बदल कर गाव मे है रह रहा,
आतंकित हू कैसे
जूझू आतंक से
मै त्रिभंग?

कौन था वह जो मेरे ही सामने
मेरा घर उठाकर चला गया
कौन था वह जो मेरा ही चेहरा
अपने चेहरे पर ओढ कर
मेरे पास से गुजर गया

पहचानना कठिन है
पीठ की ओर से
किन्तु एक सोने की कुर्सी है छोड गया
जहा मेरा घर था
और एक जोडा जूता चादी का
जहा मेरा चेहरा था,
घर और चेहरे का चोर वह हमशक्ल
कौन था, मै स्वय
या कोई और था,
घर, चोर, चेहरे के त्रिकोण पर
दौडता रहू कब तक
कुर्सी के मोह और
जूतो के लोभ मे?

कौन है महान
माननीय मातादीन जी
जो कुर्सी से जकड गये
जेल से छूटने पर
चेहरा जूतो से रगड कर
या महगू मोची
जो जूतो मे ठोकता है कील
चेहरे को बचाकर,
पीपल की डाल पर बैठे बेताल को
क्या दू मै उत्तर
जब जूते और चेहरे के
द्वन्द्व-मकड़जाल मे स्वय जकड़ा हू
मै त्रिशकु,
न उत्तर न प्रश्नपूर्ण
हू मात्र प्रश्नचिह्न।

पृथ्वी और स्वर्ग स्यात्
दो नक्शे है एक ही देश के
किन्तु ज्ञात ही नहीं था-
कन्धे पर पृथ्वी उठाये हुए
उड नहीं सकता था मै अन्तरिक्ष मे,
जानता नहीं था
जिजीविषा और जडता का
धरती और स्वर्ग का अन्तर
दोनो के द्वन्द्व-केन्द्र मे
अटका रहू कब तक?

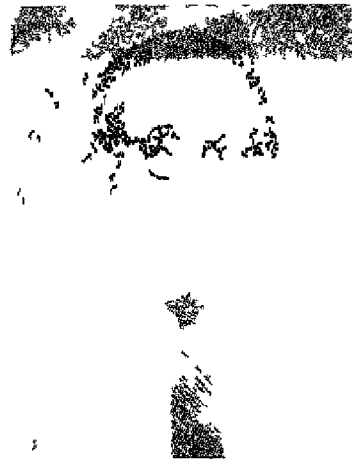
मेरा रोग हृदय की धमनियो से
हड्डियो मे है समा गया
आखो पर छा गया
दिखाई पडते है चीजो के
तीन-तीन चेहरे,
हर राह बट जाती है
तीन-तीन राहो मे-
एक पर लिखा है--आवश्यक
दूसरे मोड पर अकित है 'सभव'
तीसरे पर ''असभव''
थोडी दूर चलते ही तीनो राहे
हो जाती है गडमड,
बन गया हू 'युग-प्रश्न'-
चलू किस राह पर
मै त्रिशकु?

डरू उनसे क्यो
जो दृश्य ही नहीं है
मृत्यु हो या जिन्दगी,
प्यार भी कैसे करू मृत्यु से
हसने को कौन कहे
रोने भी नहीं देती
उसकी खुराक है जिन्दगी की हसी
जिन्दगी से प्रीति
एक बेहोश रोगी से
है एकतरफा बतकही।
मै पागल सत नहीं-
रो तू जब तक मृत्यु है रुकी हुई
या हस लू जब तक
जिन्दगी है रो रही,
क्या करू-भूसा भरा है देह मे
दिमाग मे
मृत्यु की हसी और जिन्दगी की बेवसी
एक मे मिलाकर
धीरे-धीरे मरू या
कुछ-कुछ जीता रहू?

टूट गया सतरग इन्द्रधनुष
शून्य मे
उड रहे है चारो ओर
रिक्तता के टुकडे,
खोज रहे हैं आखे

आदमी के टेढ़े-मेढ़े चेहरे,
और आखे है खोज रहीं अपने अपने चेहरे।
पूछता है प्रश्न ताल का यक्ष आज
क्या टुकड़े जुड सकते है
भर सकती है रिक्तताए,
आदमी को मिल सकती है
क्या खोई हुई आखे?
क्या दू उत्तर
अन्धो मे काना
म त्रिशकु?

मिल सकती है क्या मुझे
खोई हुई आख फिर,
उन्हे भी उनकी खोई हुई आखे?
आखे जो कोहरे को चीर कर चमकती थीं
आखे जो मृत्यु के पार देख लेती थीं
आखे जो आसुओ की झील-सी झलकती थीं
जिनमे हसो-सी हसी तैरती थी।
आख मिला सकता नहीं अब उन आखो से,
बीच मे एक दैत्य-छाया खडी है-
कैसे मिलेगी वे खोई हुई आखे?
इस एक आख से दिखाई पडती है
वस्तुए ही वस्तुए चमकीली, आकर्षक
आदमी भी लगते है अलग-अलग दामो की
चीजे सजे हुए
मै इस बाजार मे कहा खोजू आखे,
कैसे मिलेगी वे खोई हुई आखे?



अग्रेजी के प्रतिष्ठित समालोचक एव कवि प्रो० नरसिह श्रीवास्तव का जन्म सिद्धार्थनगर जनपद मे एक मध्यमवर्गीय परिवार म हुआ था और उनकी उच्चशिक्षा इलाहाबाद विश्वविद्यालय मे सम्पन्न हुई। उनके व्यक्तित्व मे एक विद्वान अध्यापक प्रौढ कवि समालोचक तथा सहज एव सीधे साद व्यक्तित्व क धनी चिन्तक का अद्भुत सम्मिश्रण है।

डॉ० श्रीवास्तव ने १९५८ स १९९३ तक गोरखपुर विश्वविद्यालय मे प्राध्यापक रहकर विभागाध्यक्ष क रूप मे अवकाश प्राप्त किया। सम्प्रति अग्रजी मे उनके चार काव्य–सकलन एव चार समालोचना ग्रथ तथा हिन्दी मे पाच काव्यकृतिया प्रकाशित हो चुकी है। टी० एस० ऐलियट की प्रमुख कविताओ क हिन्दी पद्यानुवाद बन्ध्या धरती द्वारा अनुवादक के रूप मे भी उनकी पहचान बन चुकी है। डॉ० श्रीवास्तव साहित्य और सस्कृति क नये प्रतिमानो तथा नई उपलब्धियो की खोज मे निरन्तर सलग्न रहते है। त्रिशकु म सरस छन्द का प्रयोग नइ कविता मे प्रयोग का मानक उदाहरण है। उनका सातवा काव्यसकलन घर से समुद्र तक निकट भविष्य मे प्रकाश मे आ जाएगा ऐसी आशा है।

प्रो० श्रीवास्तव १९९४ मे उत्तर प्रदेश हिन्दी सस्थान द्वारा जयशकर प्रसाद पुरस्कार से सम्मानित हो चुके है।

## डॉ० नरसिह श्रीवास्तव की अन्य काव्य-कृतिया

### मुखौटे के नीचे

इस पुस्तक मे डॉ० नरसिह श्रीवास्तव के कला–प्रवण ह्रदय की इन्द्रधनुषी छवि–छटा के तीन वृहद् आयाम अभिप्रकाशित हुए है १ मुखौटे के नीचे २ लहर की लाश और ३ निर्वाण की ओर- --------- अनेके पक्तियो का पैना एव धारदार व्युग युग सत्य को साकार कर देता हे आडम्बरशील समाज के घातक शील का पारदर्शी शल्यनिरुपण करता है तथा नीत्से की वॉस्ट मॉन्सटर ऑफ एनर्जी को रूपायित करने मे सक्षम है। विद्वान कवि न अपने व्यापक ज्ञानसन्धान के रगोछन्दो से इस काव्यपुस्तक का अनुपम भावसम्पदा प्रदान की है। कवि के काव्यव्यक्तित्व को मिथक पुराण वेद वेदान्त बौद्धदर्शन मार्क्स इलियट–ऑडेन क विचार–वैभव ने सवारा है।

–कविता इण्डिया अक्टूबर १६८७ ई०

### खेंजडी बोल रही है

शीषर्क कविता मे कबीर के युग से आज तक के पाखण्ड और अनाचार को व्यक्त करन का प्रयत्न हुआ है। कबीर की पक्तियो और उनके व्यक्तित्व से जुडे अनेक बिम्ब कविता मे रचे–बसे है। नरसिह श्रीवास्तव जिस कुशलता के साथ पश्चिमी प्रतीका का प्रयोग करके अपनी काव्याभिव्यक्ति को सवारते है उसी कुशलता के साथ भारतीय प्रतीक–चित्रो को शहरी जीवन के मुहावरो मे प्रस्तुत करके अर्थ–छविया उभारते है। -- इनक दो सग्रहो मे प्रकाशित कविताओ को देखकर आशा की जा सकती है कि अभी नरसिह श्रीवास्तव की काव्य–साधना बहुत आगे बढेगी। इनके जैसे कवि की रचना–क्षमता अपार होती है।

प्रकर दिसम्बर १६८६ ई०

### चिन्तन पर्व

नरसिह श्रीवास्तव–कृत चिन्तन पर्व मनुष्य की मनुष्यता एव उसके स्व के पहचान की महत्ता को उजागर करने के प्रयास मे रचित काव्यकृति है। कवि की सारी चिन्ता आत्मविश्लेषण एव आत्म–पहचान के इर्द–गिर्द घूमती है और इस क्रम मे वह अनेक मिथकीय सन्दर्भो का आनुषगिक प्रयोग करता है। कवि अपनी स्व–पीडा को इतना अन्तहीन विस्तार देता है कि समूची पर–पीडा भी उसी मे समाहित हो जाती है। नरसिह श्रीवास्तव जीवन की बारीकियो को बहुत करीब से देखने वाले कवि लगते है। उनकी कविताए मनुष्य के अन्तर्बाह्य सघर्ष की साक्षी है। वस्तुत नरसिह श्रीवास्तव की कविताए केवल पठनीय ही नही है वरन बहुत कुछ सोचने और अपने भीतर झाककर देखने की प्रेरणा देती है। यही उनकी सबसे बडी काव्यात्मक सफलता एव सार्थकता है।

–समीक्षा जनवरी–मार्च १६६२ ई०

### आओ बात करे

आओ बात करे समकालीन युग–बोध को अत्यन्त सहज–स्वाभाविक ढग से अभिव्यक्ति प्रदान करती है। ---- -सहज सर्वजन सुलभ एव मुहावरेदार जीवन्त काव्य–भाषा तथा जीवन्त–वास्तव एव भोगे हुए यथार्थ को अभिव्यक्ति देने मे सक्षम जन–जीवन से गृहीत बिम्ब–योजना मे आलोच्य कृति का शिल्पगत वैशिष्टय निहित है। मुक्तछन्द का निर्वाह आद्योपान्त लक्षित होता है।

समीक्षा जुलाई, १६६७